काशीजीसे जल ले जाना लिखा है, यथा—'**प्रणमेत्सेतुबन्धं यो दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम्। ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मुच्यते मदनुग्रहात्॥ सेतुबन्धे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा रामेश्वरं हरम्। संकल्पनियतो भूत्वा गत्वा वाराणसीं नरः॥ आनीय गङ्गासलिलं रामेशमभिषिच्य च। समुद्रे क्षिप्तत्द्भारो ब्रह्म प्राप्नोत्यसंशयः॥**' (४। २—४) अर्थात् जो रामेश्वर महादेवका दर्शन कर सेतुबंधको प्रणाम करेंगे वे हमारे अनुग्रहसे ब्रह्महत्यादि पापोंसे छूट जायँगे। जो मनुष्य सेतुबन्धपर स्नानकर रामेश्वर महादेवका दर्शनकर संकल्प करके नियमसे वाराणसी (काशी) जाकर वहाँसे गङ्गाजल ला रामेश्वरका उससे पूजनकर उस (काँवरि और जलपात्र आदि) भारको समुद्रमें डाल देगा वह निस्संदेह ब्रह्मको प्राप्त होगा। आनन्दरामायणमें सेतुबन्ध, लिङ्गस्थापन और इस तीर्थका महत्त्व विस्तृतरूपसे वर्णित है। उसमें गङ्गाजल चढ़ानेके विषयमें यह उल्लेख है—'सेतुबन्धमें स्नानकर रामेश्वरका दर्शन करके यहाँकी रेत लेकर काशीजी जाकर मणिकर्णिकातटपर गङ्गाजीमें उस बालूको छोड़कर वहाँसे गङ्गाजल लावे और उससे रामेश्वरजीको स्नान करावे और समुद्रमें स्नान करे तो उसे निस्संदेह ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। यथा—'**स्नानार्थमानयिष्यन्ति मणिकर्णिजलं मम॥ ""सेतुबन्धे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम्॥ संकल्पनियतो भूत्वा गृहीत्वा सेतुबालुकाम्। करण्डिकाभिर्यत्नेन गत्वा वाराणसीं शुभाम्॥ क्षिप्त्वा वेण्यां बालुकां तां त्यक्त्वा बालुकराण्डकाम्। आनीय गङ्गासलिलं""॥**' (१। १०। १८२—१८५)

नोट—३ '*जे रामेश्वर* ""' से लेकर आगेके '*भगति मोरि तेहि संकर देई*' तक तीसरा कारण लिङ्गस्थापनका कहा गया। जीवोंको सालोक्य, सायुज्य-मुक्ति और रामभक्ति सुगमतासे प्राप्त हो जाय इस लोकहितके लिये स्थापना की। यथा—'**संस्थाप्य पूजयित्वाह रामो लोकहिताय च।**' (अ० रा० सर्ग ४। १)

रा० प्र०—'*सिव समान प्रिय मोहि न दूजा*' से लेकर जो वचन प्रभुने कहे हैं उनका भाव यही है कि सदा यही भावना रखे कि हमको शिवसमान प्रिय दूसरा कोई नहीं है। इन वचनोंसे अभेद-बुद्धि रखनेका उपदेश देते हैं। पूर्व बालकाण्डमें भक्तिकी रीति कह आये हैं कि *हरिहरपद रति मति न कुतरकी*' वही यहाँ कहा है। श्रीरामजीके नाम, रूप और धामादिसे जो ब्रह्मकी प्राप्ति होती है उसकी रामेश्वरजीसे प्राप्ति कहकर दोनोंमें अभेद बताया।

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥ ३॥

अर्थ—जो निष्काम होकर और छल छोड़कर श्रीरामेश्वरजीकी सेवा करेंगे उन्हें शङ्करजी मेरी भक्ति देंगे॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*अकाम होइ*'। भाव कि जबतक कुछ भी कामना रहती है तबतक भक्ति नहीं मिलती। (ख) '*छल तजि*' कहा, क्योंकि भगवान्‌को छल नहीं भाता। यथा—'*मोहि कपट छलछिद्र न भावा।*' (५। ४४। ५) अतः कहते हैं कि छल त्यागकर शिवसेवा करे, यथा—'*बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू॥*'(१। १०४। ६) भक्ति मिलना कठिन है, निष्काम होकर छल छोड़कर जब सेवा करे तब मिले। छल यह है कि रामभक्तिके लिये शिव-सेवा करता है पर हृदयमें शिवभक्ति नहीं है। छल छोड़कर सेवा करे तब कृपा होती है। यथा—'*मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥*' (१। २००। ६); '*मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा।*' (१। १८६), [(ग) '*सेइहि*'' शब्दसे जनाया कि यहाँ कुछ दिन रहकर सेवा करे। (बं० पा०)] सेवाका फल रामभक्तिकी प्राप्ति होगी। यथा—'*सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥*' (७। १०६। २) [(घ) '*संकर देइहि*' कहनेका भाव कि शङ्करजी रामभक्तिके कोषाध्यक्ष बना दिये गये हैं, वे ही रामभक्तिके दाता हैं। उत्तरकाण्डमें भी यह रहस्य कहा है। यथा—'*औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥*' (७। ४५) भक्तिका दातृत्व तापनीय और उपासना रहस्यसे सिद्ध है। ब्रह्मा आदिने इन्हींसे भक्ति पायी। पञ्चरात्रमें जो नारदादिको उपदेश है वह सब यहाँ समाजमें श्रीरघुनाथजीने उपदेश दिया है। (रा०प्र०)] शङ्करजी भक्तिके दाता हैं अतः उनके विमुख होनेसे मेरी भक्ति नहीं मिलती—'*संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥*' उनकी सेवासे भक्ति मिलती है—यह उपदेश करते हैं।

टिप्पणी—२(क) कर्म, ज्ञान और उपासना तीन हैं। यहाँतक दिखाया कि इनसे तीनोंकी प्राप्ति होती

है। कर्म और ज्ञानका फल देते हैं और उपासना देते हैं। यथा—

१ *'जे रामेश्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥'*—भगवद्धाममें वास बड़े सुकृतका फल है। २ *'जो गङ्गाजलु आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥'*—यह ज्ञानका फल है। ज्ञानसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है। ३ *'होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥'* यह उपासनाकी प्राप्ति है।

कर्म और ज्ञानके फलकी प्राप्ति कही, पर उपासनाके फलकी प्राप्ति नहीं कहते; क्योंकि उपासक उपासनाका फल नहीं चाहते। यथा—*'राम उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥'* उपासक उपासनाका फल उपासना ही चाहते हैं, यथा—*'परहु नरक, फलचारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी रामसनेह को जो फल सो जरि जाउ॥'* (दो० ९२) [भगवान्‌ने ऐसा ही दुर्वासाजी और उद्धवजीसे कहा है। यथा—**'मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्॥'** (भा० ९। ४। ६७) (अर्थात् जो अपनेको केवल मेरी सेवासे परिपूर्ण मानते हैं वे भक्त सालोक्यादि चारों मुक्तियोंको भी नहीं चाहते, तब कालके द्वारा नष्ट होनेवाले अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?), **'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥'** (भा० ११। १४। १४) (अपने चित्तको मुझमें अर्पण करनेवाला भक्त ब्रह्माका पद, इन्द्रका आसन, चक्रवर्त्ति-पद, पातालका राज्य इत्यादिकी तो बात ही क्या, मेरे बिना योगकी सिद्धियों और मोक्षकी भी इच्छा नहीं करता)। तभी तो गोस्वामीजी विनय करते हैं कि—*'मोको अगम सुगम तुम्हको प्रभु तउ फल चारि न चहिहैं। खेलिबेको खग मृग तरु किंकरु ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहु दुख दहिहौं। इतनी जियलालसा दास के ""॥'* (वि० २३१) भक्त भगवान्‌से क्या चाहते हैं इस विषयमें वृत्रासुरके वचन प्रमाण हैं। भक्तोंके बड़े कामके हैं अतः हम उन्हें यहाँ उद्धृत करते हैं—**'पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम्। न राति यद्द्वेष उद्वेग आधिर्मदः कलिर्व्यसनं सम्प्रयासः॥**, **'अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः। मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः॥ न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥ अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः। प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥'** (भा० ६। ११। २२, २४—२६) वृत्रासुरने इन्द्रसे कहा कि 'भगवान् अनन्य प्रेमी निजभक्तोंको स्वर्ग, पृथ्वी अथवा रसातल कहींकी भी सम्पत्तियाँ नहीं देते; क्योंकि उनसे द्वेष, उद्वेग, मानसिक पीड़ा, अभिमान, कलह, व्यसन और श्रम ही प्राप्त होते हैं' फिर भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा कि 'हे हरे! जिन्हें आपके चरणकमलोंका ही आश्रय है, मैं फिर भी आपके उन दासोंका ही दास होऊँ। मेरा मन आप प्राणनाथके गुणोंका ही चिन्तन करे, मेरी वाणी आपका ही गुणगान करे और शरीर आपका ही कैंकर्य करे। मुझे आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मपद, सार्वभौम साम्राज्य, रसातलका आधिपत्य, योगसिद्धि अथवा मोक्ष आदि किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं है। हे कमलनयन! जिनके पंख नहीं जमे हैं, वे पक्षियोंके बच्चे जैसे माताकी प्रतीक्षा करते हैं, भूखसे पीड़ित बछड़े जैसे माताका दूध पीनेके लिये उत्सुक रहते हैं तथा जैसे विरहव्यथित कामिनी अपने प्रवासी प्रियतमकी बाट जोहती है उसी प्रकार मेरा मन आपकी झाँकी करना चाहता है।' (ख) कर्मसे ज्ञान विशेष है और ज्ञानसे उपासना विशेष है। अतएव इनके फल उत्तरोत्तर विशेष कहते हैं—सालोक्यसे विशेष सायुज्य है और सायुज्यसे उपासना विशेष है।

रा०प्रा०—१ हरिलोक, ब्रह्मस्वरूप वा सायुज्य और भक्तिकी प्राप्ति तीनों रामेश्वरजीसे कही। इतना बड़ा महत्त्व इसका क्यों कहा? अभेद भाव स्थापित करनेके लिये एवं प्रतिष्ठा करनेवाला जितना ही बड़ा संत होता है उतना ही अधिक महत्त्व उसकी प्रतिष्ठित मूर्तिका होता है। भगवान्‌ने स्वयं इनकी प्रतिष्ठा की इसीसे इतना महत्त्व उन्होंने रामेश्वरको दिया।

गौड़जी—*'लिङ्ग थापि ""संकर देइहि।'* [१(६) से २ (३) तक]—भगवान् रामेश्वरकी स्थापना करके राम-शिव अभेद-प्रतिपादनपूर्वक माहात्म्यका और दर्शन, पूजा, सेवा आदिका फल श्रीमुखसे यों वर्णन करते

हैं कि मुझे शिव-समान कोई प्रिय नहीं है, शिव दूसरे नहीं हैं, (गुप्त भाव *'न दूजा'* का यह है कि मैं ही हूँ)। परंतु इस ज्योतिर्लिङ्गका विशेष माहात्म्य यह है कि (इस राम-ईश्वर नामक लिङ्गसे राम और शिवकी अभेदता सिद्ध होती है और जिसे इस विषयमें श्रद्धा है और) जो राम-ईश्वरके दर्शन (मेरे या शिवके द्रोही रह चुकनेपर भी) करेंगे वह मरकर सालोक्य (और इसीलिये 'सारूप्य' भी) गति पावेंगे। (उनके शिव या विष्णुद्रोह करनेका यही एकमात्र प्रायश्चित्त होगा।) और जो गङ्गाजल चढ़ावेगा वह सायुज्य (जिसमें 'सामीप्य' का भी अन्तर्भाव हो सकता है) मुक्ति पावेगा। और जो (शिव या विष्णुका द्रोही रह चुका है, परंतु फिर भी मेरी भक्ति चाहता है,) कामनारहित निष्कपट भावसे सेवा करेगा उसे भगवान् शङ्कर मेरी भक्ति देंगे।

मम कृत सेतु जो दरसनु करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥ ४॥

अर्थ—जो मेरे बनाये हुए सेतुका दर्शन करेगा वह बिना परिश्रम भवसागर तर जायगा॥ ४॥

टिप्पणी—१ प्रथम शिवदर्शन कहकर तब सेतुदर्शन कहकर जनाया कि पहले रामेश्वरदर्शन पड़ता है तब सेतु, यदि समुद्र पार जाकर 'थापना' करते तो प्रथम सेतुदर्शन कहते तब शिवदर्शन। यथा—'**प्रणमेत्सेतुबन्धं यो दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम्।**' (अध्यात्म० ४। २), '**ययौ स्वीयाश्रमं तुष्टः कुम्भजन्मा मुनीश्वरः॥**' (आ० रा० १। १०। १९३) *'बिनु श्रम'* अर्थात् जैसे पुलपर चढ़कर लवणसिंधु पार होनेमें कुछ श्रम नहीं है वैसे ही सेतुदर्शनसे भवसागर पार होनेमें कुछ श्रम नहीं है।

नोट-सेतुबन्धनका एक कारण यह है। जीवोंको भवसिंधु पार होनेका यह एक सुलभ साधन बनाना था। भगवान् समुद्रको सोख लेनेको समर्थ थे पर अनेक कारणोंमेंसे मुख्य कारण यह था कि उन्होंने वैसा नहीं किया, जो सुन्दरकाण्डमें कहा था—*'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।'* उस 'मनकी कृपा' में इसका भी अन्तर्भाव है। सेतुबन्धनके कुछ कारण आ० रा० में इस प्रकार वर्णित हैं—एक बार सूर्य-ग्रहण पर्वपर श्रीरघुनाथजीके साथ श्रीमिथिलेशनन्दिनीजी भी कुरुक्षेत्रमें पधारी थीं। वहाँ अगस्त्य-धर्मपत्नी श्रीलोपामुद्राजी उनसे भेंट करने आयीं। वार्तालापके बीचमें हँसते-हँसते श्रीलोपामुद्राजीने उनसे कहा कि महाराज रामचन्द्रजीने व्यर्थ ही सेतुबन्धका परिश्रम किया, मेरे पतिसे प्रार्थना करते तो वे क्षणभरमें उसे पीकर सुखा देते। व्यर्थ ही तीन उपवास कर सागरसे मचले और वानरोंसे पहाड़ ढोवाये। इसपर महारानीजीने उत्तर दिया—

(१) बाणसे समुद्रको इसलिये नहीं सुखाया कि अकारण ही अनेक जलचरोंकी हत्या होगी।

(२) यदि लाँघकर पार चले जाते तो रावण कैसे समझता कि ये मनुष्य हैं।

(३) यदि हनुमान्‌जीकी पीठपर आरूढ़ होकर समुद्र पार करते तो लोकमें उनका पुरुषार्थ ही क्या रह जाता?

(४) मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजी ब्राह्मणके मूत्रभूत समुद्रको तैरकर पार जानेको उचित समझनेकी भोंडी गलती कैसे कर सकते थे?

(५) श्रीअगस्त्यजी महाराजजीके परमैकान्तिक भक्त हैं अतः श्रीराघवेन्द्रकी आज्ञा होनेपर वे कार्य, अकार्य, विकार्य सब कुछ कर सकते हैं, अतः श्रीराघवेन्द्रजीकी आज्ञासे वे अपना मूत्र भी पी जाते, यह सर्वथा सत्य है। पर क्या श्रौतस्मार्तधर्मसेतुपालक श्रीरघुनाथजी ऐसा अभूतपूर्व अपराध कर सकते थे कि उन्हींका मूत्र (समुद्र) उन्हींको पिलावें? ऐसा घोर दण्ड तो महागुरुतर अपराधीको भी नहीं दिया जाता और महर्षि अगस्त्यजी तो सर्वथा शुद्ध निष्पाप तथा भक्त हैं।

इत्यादि कारणोंसे पत्थरोंको जलमें तैराकर सेतुबन्धन करके उन्होंने अपनी अचल कीर्ति स्थापित की। यह उत्तर सुनकर श्रीलोपामुद्राजी लज्जित हो गयीं। (वे० भू०)

रामबचन सब के जिए भाए। मुनिबर निज निज आश्रम आए॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सबके जीको अच्छे लगे। वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ अपने-अपने आश्रमोंको लौट आये॥ ५॥

टिप्पणी—*'सब के जिय भाए'* कहकर जनाया कि रामेश्वर और सेतुबन्ध दोनोंका माहात्म्य सबने स्वीकार किया और माहात्म्य सुनकर सबने शिवपूजन करके सेतुका दर्शन श्रद्धापूर्वक किया। [पुनः,सबको भाए, क्योंकि श्रवणसुखद परलोक-हितकारी और वेदप्रमाण हैं। (पाँ०) मयङ्ककार कहते हैं कि इस वाक्यके अन्तर्गत भाव यह है कि जो वचन रामचन्द्रजीने पहिले कहे वे सबको अच्छे नहीं लगे; क्योंकि श्रीमतावलम्बियोंके विरुद्ध वे वचन थे; पर सेतुदर्शनसे तरना जो कहा यही इनके अनुकूल हुआ अतः यह वचन सबको प्रिय लगा। (नोट—पर यहाँ 'भाए' क्रिया बहुवचन है; इससे श्रीरामजीके सभी वचनोंका प्रिय लगना स्पष्ट अभिप्रेत जान पड़ता है।)

टिप्पणी २ (क) *'मुनिबर निज निज आश्रम आए'* उपसंहार है। *'मुनिबर सकल बोलि लै आए।'* (२। ५) इसका उपक्रम है। [मुनिबर निज-निज आश्रम 'गये' न कहकर 'आये' कहनेमें यह 'ध्वनित है कि मुनियोंको सम्मानपूर्वक अपने-अपने स्थानोंको सुग्रीवके सेवकोंने पहुँचाया, एवं कवि भी मानो हर एकके साथ-साथ उन्हें उनके आश्रमोंतक पहुँचा आये। (गौड़जी)] 'आए' से जनाया कि जब ऋषिगण अपने-अपने स्थानोंमें पहुँच गये तब श्रीरामजीकी सेना चली।

गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥ ६॥

अर्थ—हे गिरिजे! श्रीरघुपतिकी यह रीति है कि वे अपने शरणागतपर सदा प्रीति करते हैं॥ ६॥

गौड़जी—रामचरितमानसकी सारी कथाका मूल कारण श्रीपार्वतीजीका यह मोह था कि भगवान् शंकर स्वयं सच्चिदानन्द हैं इन्होंने रामजीको सच्चिदानन्द कहकर क्यों प्रणाम किया। यहाँ भी उसी विमोहके उत्पन्न होनेकी आशङ्का है क्योंकि राजा रामचन्द्रजीने भगवान् शंकरकी स्थापना पूजादि करके इतना माहात्म्य बखाना है। इसी आशङ्काके निराकरणके लिये भगवान् शंकर बिना उनके पूछे ही कहते हैं कि 'हे गिरिजा, सुनो, 'रघुपतिकी यह रीति है अर्थात् 'राजा' रामचन्द्रजीकी यह रीति है कि निरन्तर अपने शरणागतपर प्रीति रखते हैं। मैं उनकी शरणमें रहता हूँ इसीलिये उनका मुझपर इस दरजेका प्रेम है। मैं दास हूँ वे स्वामी हैं।' यहाँ यह ध्वनित है कि इस प्रसंगसे इस धोखेमें न आना कि मैं ही रामका ईश्वर हूँ, मैं तो अपनी ओरसे अपनेको उनकी शरणमें पड़ा दीन दास मानता हूँ।

मा० म०—श्रीशिवजीको श्रीरामचन्द्रद्वारा सेवित जानकर पार्वतीजीका मनमतङ्ग मदसे पूरित हो गया कि हमारे पति श्रीरामचन्द्रके भी उपास्य हैं। उनको इस अवस्थामें देख शिवजी कहते हैं कि हे गिरिजे! श्रीरामचन्द्रकी यही रीति है, ये सदैव सेवकपर स्नेह रखते हैं।

तात्पर्य यह कि श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करनेसे ही यह बड़ाई प्राप्त है, बिना उनकी सेवाके यह बड़ाई दूर है। पुनः, हे प्रिये! यह वात्सल्यरस है जैसे माता बालककी सेवा करती है वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी भक्तोंको सेवते हैं, यह विचारकर सुखके रसका रसिक होना चाहिये।

नोट—*'प्रनत पर प्रीती'* करना कहकर अपना सेवक-भाव दृढ़ किया, यथा—*'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।'* पुनः इससे भी जनाया कि ऐसे प्रभुका जो भजन नहीं करते वे मतिमन्द और अभागे हैं; यथा—*'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अति प्रीती॥ जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यान रंक नर मंद अभागी॥'* श्रीरामजीको सेवक अत्यन्त प्रिय है, यथा—*'सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥'* (७। १६। ८) *'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे ·····। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे।'* (७। ८। ७-८) *'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जे गाइहहिं। संसार सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहहिं।'* (लं० १०) *'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥'* (सुं० ३२। ७) *'गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥'* (७। ५०। ९) इस तरह शिवजीके कथनका भाव यह है कि मुझको अपना दास जानकर यह बड़ाई दी है—*'संतत दासन्ह देहु बड़ाई।'* (३। १३। १४; अगस्त्यवाक्य)

इस वाक्यसे सूचित हुआ कि शंकरजी भक्तिमें कैसे परम सावधान हैं। स्वामी उनको स्वामी कहते

हैं फिर भी वे इस प्रशंसामें भूल नहीं जाते, वे स्वामीकी इस प्रीति-रीतिकी, इस स्वभावगुण शीलकी सराहना करने लगते हैं। यही बात विनयमें भी कही है। यथा—*'राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लषन भरत। जिन्ह के हिये सुथल राम प्रेम सुरतरु लसत सरल सुख फूलत फरत॥ आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ पाइ पति ते सनेह सावधान रहत डरत। साहिब सेवक रीति प्रीति परमिति नीति नेम को निबाह एक टेक न टरत॥'* (वि० २५१)

टिप्पणी—श्रीरामजीने शिवजीकी पूजा और बड़ाई की, अब शिवजी श्रीरामजीकी प्रीतिको सराहते हैं। इस कथनका भाव यह है कि जब स्वामी सेवककी प्रीतिसे प्रसन्न होता है तब अपने मुखसे सराहना करता है, यथा—*'गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥'*

श्रीरामजीने स्वामिभावसे शिवपूजन किया, रामेश्वर नाम रखा, यथा—*'जे रामेश्वर दरसन करिहहिं'*, '**रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः**'। शिवजी रामजीको अपना स्वामी कहते हैं, यथा—*''संतत करहिं प्रनत पर प्रीती'*। इसने '**रामेश्वर**' का बहुब्रीहि समास किया इस प्रकार कि '**रामः ईश्वरो यस्य स रामेश्वरः**।'

करु०—इस कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि कोई भी शुभ कार्य करे तो उसमें प्रथम रामभक्तकी स्थापना (पूजा) करे तो कार्य अवश्य सिद्ध होता है।

बाँधा* सेतु नील नल नागर। रामकृपा जसु भएउ उजागर॥७॥

अर्थ—चतुर नल-नीलने सेतु बाँधा। श्रीरामजीकी कृपासे उज्ज्वल यश सुप्रकाशित हो गया॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'आनि देहिं नल-नीलहिं रचहिं ते सेतु बनाइ।'* (दोहा १) पर सेतुबन्धन प्रसंग छोड़ा था, अब वहींसे पुनः उठाते हैं—*'बाँधा सेतु ···· ॥'* [*वा, देखि सेतु अति सुंदर रचना'* पर प्रसंग छोड़कर रामेश्वरस्थापन और माहात्म्य कहने लगे थे अब फिर सेतुका प्रसंग उठाया] (ख) *'नागर'* विशेषण देकर जनाया कि, बड़े चतुर हैं, इन्होंने बड़ी सुन्दर रचना की है। (रावणने भी प्रशंसा की है, यथा—*'सिल्प कर्म जानहिं नलनीला')*। (ग) *'रामकृपा'* का भाव कि सेतु भी बाँधा रामकृपासे और यश भी हुआ रामकृपासे ही, नहीं तो सब पत्थर तरंगोंके झकोरसे विथर जाते, सेनाके चढ़नेसे पत्थर डूब जाते, क्योंकि बिना आधारके हैं; रामकृपासे सब बात बन गयी।

नोट—१ रामकृपासे उनको यश प्राप्त हुआ, यह बात आगे कवि स्वयं दिखाते हैं। पुनः 'रामकृपा' का भाव कि यदि वे सेतु न बँधाते तो यश न होता। श्रीरामचन्द्रजीने सेतु बँधाया इससे समुद्रको, नल-नीलको, वानर-समूहको सभीको यश प्राप्त हुआ। यथा—*'इहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय॥'* (५। ६०। ४)

टिप्पणी—२ *'संतत करहिं प्रनत पर प्रीती'*—इसका एक उदाहरण तो रामेश्वरका स्थापन और इनको इतना महत्त्व देना ही बताया, अब दूसरा उदाहरण सेतुबन्ध और उससे नलनीलादिको स्थायी यश देनेका देते हैं।

इनपर प्रभुकी कृपा है इसलिये इनका सुयश त्रिलोकीमें हुआ। यथा—*'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया····'*, *'सो बिनई बिजई गुन सागर। तासु सुजस त्रयलोक उजागर॥'*(५। ३०। १, ३)

बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई॥८॥
महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी॥९॥

अर्थ—जो पत्थर आप डूबते हैं और दूसरोंको (अर्थात् वृक्ष-तृण आदि भी जो उनपर होते हैं और अलग होनेसे न डूबते उनको भी) डुबा देते हैं, वही पत्थर जहाजके समान हो गये†॥ ८॥ यह महिमा (कवि लोगोंने) समुद्रकी नहीं वर्णन की। यह न तो पत्थरका ही गुण है और न यह नल-नील तथा और वानरोंकी ही करनी है॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'महिमा यह न जलधि कै बरनी'* इति। समुद्रने श्रीरामजीसे कहा था कि *'मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहौं बल अनुमान सहाई।'*, अतः कहते हैं कि यह समुद्रकी महिमा नहीं है, समुद्रकी

---

* बाँधेउ—(का० मा० मा०)। † चतुर्थ विभावना अलंकार है।

सहायतासे पत्थर जलपर नहीं उतरा रहे हैं। और न यह 'पाहनगुण' है क्योंकि पत्थरका गुण तो डूबना और डुबाना है, तैरना वा उतराना गुण उनमें नहीं है।

पं०—*'महिमा यह न जलधि कै बरनी।* ·····' इति। यदि कहें कि समुद्रने तारा है तो यह मान नहीं सकते, क्योंकि समुद्र तो अथाह है उसमें महाचापल मीनोंने निराधार बैठकर पर्वत कैसे उठाए और अबतक कैसे बैठे रहे; इसलिये यह समुद्रकी महिमा नहीं हो सकती। जो कहो कि पाषाणोंकी जातिका गुण है, जैसे सुदामा जातिका पत्थर कहा जाता है कि जलमें नहीं डूबता, तो उसका उत्तर यह है कि उस सेतुमेंका कोई भी टुकड़ा लेकर समुद्रमें डालकर देख लो कि वह डूब जाता है कि नहीं, न डूबे तब मानें कि पत्थरकी जातिका स्वभाव है। तीसरे यदि कहो कि नलनीलके स्पर्शका प्रभाव है तो यह प्रभाव ऋषियोंके वाक्यमें श्रीरामचन्द्रजीके भजनकी शक्तिसे है। अतएव रामप्रतापसे ही पत्थरका तरना सिद्ध होता है।

नोट—१ नलनीलको यद्यपि यह वर था कि उनके स्पर्श किये पाषाण जलमें डूबेंगे नहीं, तो भी समुद्र स्थिर तो है नहीं, वह तो लहरें लेता रहता है और वरदान यह है नहीं कि जहाँ जलमें पाषाण डालेंगे वहाँ ही वह जलपर स्थिर बने रहेंगे, एवं उस पाषाणपर ऊपरसे भारी बोझ पड़नेसे वह जलमें धँसेगा नहीं। पत्थरोंका एकत्र जुटकर स्थिर रहना नल-नीलके शिल्पकौशलसे बाहरकी बात है। यह केवल प्रभु-प्रतापसे हुआ।—विशेष दोहा ३ में देखिये। पुनः, जाम्बवन्तजीने जब इनसे सेतु रचनेको कहा तब यही कहा था कि *'रामप्रताप सुमिरि मन माहीं। रचहु सेतु*·····' अतएव यहाँ कहते हैं कि सेतुमें वही प्रताप मुख्य है, नल-नीलकी करनी नहीं। पुनः समुद्रने भी यही कहा है ***'तिन्ह के परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥'*** (५। ६०। २), ***'भये उपल बोहित सम तेई'*** अर्थात् स्वयं तर रहे हैं और वानरसेनाको पार करनेवाले हुए—(प्रमाण दोहा ३ में देखिये)। इतना ही नहीं किंतु मनुष्योंको भव पार करनेवाले हुए, यथा—***'मम कृत सेतु जो दरसन करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥'***

वि० त्रि०—समुद्रकी महिमा, पत्थरके गुण और बंदरोंकी करनी स्वभावसे ही संतरणके विरोधी हैं। समुद्रकी महिमा अगाध, अपार तथा विघ्नबहुलमें है (यथा—***'केहि बिधि तरिअ जलधि गंभीरा॥ संकुल मकर उरग झख जाती। अति अपार दुस्तर सब भाँती॥'*** पत्थरका गुण भारी होनेमें है, वह स्वयं डूबता है और जो उसे गले बाँधे उसे भी ले डूबता है, पत्थरका तैरना महा असम्भवकी गिनतीमें है (यथा—**'शिला तरति पानीयम्। गीतं गायति वानरः।'** इसी भाँति बंदर शाखामृग ठहरे। इनकी करनी प्रसिद्ध है कि न ये अपने लिये घर छायें, और न दूसरेको रहने दें, स्वयं भगवान् मारुति कहते हैं कि ***'साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा ते साखा पर जाई॥'*** अतः नल-नीलने जो सेतु बाँधा उसमें समुद्रकी महिमा, पत्थरके गुण या बंदरोंकी करनीकी कोई कार्यकारिता नहीं थी।

दो०—श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥ ३॥

शब्दार्थ—**'जाइ'**=जाकर।=व्यर्थ।

अर्थ—श्रीरघुवीर रामचन्द्रजीके प्रतापसे पत्थर भी समुद्रपर उतराये। वे लोग मन्दबुद्धि हैं जो उन श्रीरामचन्द्रजीको छोड़कर व्यर्थ दूसरे स्वामीको जाकर भजते हैं॥ ३॥

नोट—१ *'श्रीरघुबीर प्रताप ते*···' इस सम्बन्धमें आनन्दरामायण काण्ड १ अध्या० १० की कथा यहाँ संगत जानकर लिखी जाती है—सेतु बाँधते समय नलको अहंकार उत्पन्न हुआ कि हमने समुद्रपर बिना आधारके पुल बना दिया। श्रीरामजी उनके हृदयकी जान गये। फिर क्या? दासमें अभिमानका अंकुर वे कब रहने दे सकते हैं? यथा—*'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥* ······*ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवकपर ममता अति भूरी॥'* (७। ७४) बस, लहरोंके थपेड़ोंसे सब शिलाएँ इधरसे उधर बह जाने लगीं, कोई उपाय न चला। सब-के-सब बड़े दुःखी हुए। नलका गर्व चूर हो गया।

व्याकुल देख प्रभुने कहा कि हमारे नामके दोनों अक्षरोंको पत्थरोंपर इस तरह लिखो कि एकपर 'रा' हो तो दूसरेपर 'म'। बस, ये दोनों शिलाएँ आपसमें जुड़कर अचल हो जायँगी, क्योंकि ये दोनों वर्ण 'सहज सँघाती' हैं। ऐसा किया गया और सेतु बँध गया।—यह प्रभुके नामका प्रताप था। यथा—'**किंचिद्गर्वसमाविष्टस्तज्ज्ञातं राघवेण हि॥ यावदेकां शिलां त्यक्त्वा नलोऽन्यां प्राक्षिपच्छिलाम्। तावत्तरङ्गकल्लोलैः सागरस्य इतस्ततः॥ गच्छन्तिस्म शिलाः सर्वास्ता दृष्ट्वा खिन्नमानसः। गतगर्वस्तदा रामं नलो वृत्तं न्यवेदयत्॥ रामः श्रुत्वा नलं प्राह रामेति द्वेऽक्षरे मम। दृषदोः संधिसिद्ध्यर्थं पृथग्विलिखतां द्वयोः॥ सर्वत्रैवं लिखित्वा हि दृढः संधिर्भविष्यति।**'—(आ० रा० १। १०। १९९—२००)

☞ मिलान कीजिये '**ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे वार्धौ वीर तरन्ति वानरभटान् संतारयन्तेऽपि च। नैते गावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमारम्भः समुज्जृम्भते॥**' (हनु० ना० अंक ७। १९ श्रीहनुमद्वाक्य) अर्थात् हे वीर! जो आप स्वयं डूब जाते हैं और दूसरोंको भी डुबा देते हैं, वे ही पत्थर दुस्तर समुद्रमें तर रहे हैं और वानरयोद्धाओंको तारते भी हैं; सो यह केवल श्रीदशरथनन्दन रामचन्द्रजीके प्रतापकी महिमाका ही रूप शोभित हो रहा है।—ये वचन हनुमान्‌जीके हैं। यही प्रताप '*सुनियत सेतु पयोधि पषानन करि कपि कटक तर्‍यो*' विनयपत्रिकाके इस वाक्यसे भी सिद्ध होता है।

नोट—२ यहाँ रामको छोड़ अन्यको भजनेवालेको 'मन्दमति' कहा। इसी तरह भुशुण्डिजीने प्रभुका प्रताप कहकर उनके भजन करनेवालोंको 'प्रवीण' वा 'चतुर' कहा है। यथा—'***मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहिं भजहिं प्रवीन॥***' (उ० १२२) अन्यत्र भी भजन करनेवालोंको ही चतुर कहा है यथा—'***कठिन कालमल कोस धर्म न ज्ञान न जोग जप। परिहरि सकल भरोस रामहिं भजहिं ते चतुर नर॥***' (३। ६)पुनः भाव कि ये मतिमन्द हैं, इससे इनका हृदय विमोहवश है। विमोहवश होनेसे ये श्रीरघुपतिचरित नहीं समझते। चरित न समझनेसे वे उनको छोड़कर अन्य स्वामीको भजते हैं।—'***जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥***' मिलान कीजिये—'***अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान। जे मतिमंद बिमोह बस हृदय धरहिं कछु आन॥***' मतिमन्द होनेसे वे सेतुबन्धको समुद्र एवं नल-नीलकी करनी समझते हैं।

नोट—३ 'रघुबीर' अर्थात् ये पञ्चवीरतायुक्त हैं, यथा—'**त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रम-महावीरो धर्मवीरो सदा स्वतः॥ पञ्चवीरसमाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥**'

वि० त्रि०—समुद्रजी सरकारसे पहिले ही कह चुके हैं कि मेरी जड़ करनी है। (यथा—'***गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥***') अतः जलकी करनी डुबोनेकी है, जो पर्वत समुद्र तिर गये, वह इस कारणसे नहीं तिरे कि समुद्र उन्हें ऊपर उठाये रहा, और न नील-नलके स्पर्श करनेसे उनकी गुरुता नष्ट हुई। नील-नलको तो शाप प्रस्तरखण्ड शिल-लोढ़ा आदिके न डूबनेके लिये था, क्योंकि ऐसी ही हानि नील-नल बचपनमें ऋषिजीको पहुँचाया करते थे। अर्थात् शालिग्रामजीकी बटिया, सिल, लोढ़ा आदि नील-नलके डुबानेपर नहीं डूबते थे। शापकी इयत्ता इतनी ही थी। अब श्रीरघुवीरके प्रतापसे शाप आशीर्वाद रूप हो गया, न डूबनेकी महिमा इतनी बढ़ गयी कि अब उनके डुबाये पहाड़ भी नहीं डूबते, पत्थर मात्रपर वह नियम लागू हो गया।

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि वे मतिमन्द हैं जो ऐसे प्रतापी प्रभुका भजन छोड़कर दूसरा मालिक खोजते फिरते हैं। जो पत्थरको सिंधु पार करनेकी शक्ति प्रदान कर सकता है, वही शठ सेवककी प्रीति और रुचि रखनेमें भी समर्थ है, (यथा—'***सठ सेवककी प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु। उपल किये जलजान जेहि सचिव सुभट कपि भालु॥***')

प० प० प्र०—भाव कि विषय-प्राप्तिकी आशामय मन्दबुद्धिसे विविध विषयोंकी प्राप्तिके लिये अन्य देवताओंको भजते हैं; पर उनका वह भजन स्थिर चिर सुखदायी हो नहीं सकता। इस भजनसे मानसरोगोंका विनाश न होगा।

वीर—यहाँ समुद्रकी महिमा और वानरोंका निषेध करके उसके धर्मको रघुवीरप्रतापमें स्थापन करना 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है। रामचन्द्रजीविषयक रतिभावके अङ्गसे शान्तरसका वर्णन होना 'रसवत अलंकार' है।

बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा॥ १॥

अर्थ—सेतुको बाँधकर अत्यन्त सुन्दर और दृढ़ बनाया। (अत्यन्त बढ़िया दृढ़ बनावट) देखकर कृपानिधान श्रीरामजीके मनको वह सेतु भाया॥ १॥

नोट—१ '**सु**' उपसर्ग श्रेष्ठ, सुन्दर, अत्यन्त बढ़िया आदिका अर्थ देता है। यहाँ 'अति' विशेषण भी साथ ही है। इससे 'सुदृढ़' का अर्थ सुन्दर बढ़िया मजबूत लिया गया।

नोट—२ प्रथम सेतुबन्धका प्रसंग ***'देखि सेतु अति सुंदर रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना॥'*** (२। २) पर छोड़कर सेतुबन्ध रामेश्वरकी स्थापना और उनका माहात्म्य प्रभु कहने लगे। तत्पश्चात् शिवजीने फिर सेतु-प्रसंग उठाया, यथा,—***'बाँधेउ सेतु नील नल नागर'*** ; पर वह केवल यह दिखानेके लिये कि प्रभुने हमपर ही कृपा नहीं की वरन् सेतुबन्धसे नलनीलादिको भी सुयश दिया, क्योंकि सेतुबन्धमें केवल रामप्रताप ही कारण है और सब कारण दिखावमात्रके हैं। अतएव २ (२) पर छूटा हुआ प्रसंग अब यहाँ फिर उठाया गया। वहाँपर ***'देखि सेतु अति सुंदर रचना।'*** और 'कृपानिधि' पद आये वैसे ही यहाँ ***'सेतु अति सुदृढ़ बनावा।*** देखि 'कृपानिधि' कहा।

नोट—३ ***'कृपानिधि के मन भावा'।*** भाव कि जो चिन्ता थी कि वानरसेना किस प्रकार सुगमतासे पार हो वह दूर हुई, अतएव वह सेतु पसंद आया और प्रिय लगा। 'कृपानिधि' का भाव कि—(क) वानरोंपर आपकी बड़ी कृपा है इसीसे सेतुबन्ध कराया जिसमें सेना बिना श्रम पार हो जाय। कृपाके कारण ही पूर्व चिन्ता थी और उसके भेदियोंसे उतरनेका उपाय पूछा था। यथा, प्रथम विभीषणसे—***'केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा',*** फिर समुद्रसे—'······ ***कह कृपाल मुसुकाइ। जेहि बिधि उतरइ कपिकटक तात सो कहहु उपाइ॥'*** (सुं० ५९) पुनः, भाव कि (ख) इनके लिये यह सेतुरचना क्या है कि जिनकी आज्ञासे माया लवमात्रसे अगणित ब्रह्माण्ड रच देती है, ये तो केवल अपने भक्तोंकी प्रसन्नताके लिये उसे देखकर प्रसन्न हुए, क्योंकि कृपालु हैं। यथा—***'लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥ भगति हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुष मख साला॥'*** (१। २२५) पुनः (ग) ***'अति सुदृढ़ बनाव'*** देखकर प्रसन्न हुए। अति सुदृढ़ बनावसे जनाया कि यह पुल अचिन्तनीय तथा अशक्य, आश्चर्यजनक और रोएँ खड़ा कर देनेवाला था, तथा बड़ा सुन्दर बना हुआ था, यथा—'**तमचिन्त्यमसह्यं च ह्यद्भुतं लोमहर्षणम्। ······विशालः सुकृतः श्रीमान्सुभूमिः सुसमाहितः।**' (वाल्मी० ६। २२। ७३—७५)

नोट—४ सेतु पाँच दिनमें तैयार हुआ। प्रथम दिन १४, दूसरे दिन २०, तीसरे दिन २१, चौथे दिन २२ और पाँचवें दिन २३ योजन। इस तरह यह सेतु १०० योजन लंबा था और दस योजन चौड़ा था। यथा—'**कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश। प्रहृष्टैर्गजसंकाशैस्त्वरमाणैः प्लवङ्गमैः॥ द्वितीयेन तथैवाह्ना योजनानि तु विंशतिः। कृतानि प्लवगैस्तूर्णं भीमकायैर्महाबलैः॥ अह्ना तृतीयेन यथा योजनानि तु सागरे। त्वरमाणैर्महाकायैरेकविंशतिरेव च॥ चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरथापि वा। योजनानि महावेगैः कृतानि त्वरितैस्ततः॥ पञ्चमेन तथा चाह्ना प्लवङ्गैः क्षिप्रकारिभिः। योजनानि त्रयोविंशत्सुवेलमधिकृत्य वै॥**', '······**दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम्॥**' (वाल्मी० ६। २२। ६८—७२, ७६)

☞ रावणके वधके बाद लंकासे लौटनेके समय विभीषणजीकी प्रार्थनापर रघुनाथजीने सेतुको तोड़ दिया। इस तरह कि पहिले अपने धनुषसे सेतुके दो टुकड़े किये, फिर दोनोंके तीन-तीन टुकड़े किये। फिर १०-१० योजनपर टुकड़े किये। इत्यादि तत्पश्चात् १-१ योजनपर टुकड़े किये। पद्मपुराण सृष्टिखंड अ० ३८ श्लोक २८—३२)

☞ **सेतुबन्धन प्रकरण 'सिंधुबचन सुनि राम······' से यहाँतक है। सेतुबन्धन प्रकरण समाप्त हुआ।**

'कपिसेन जिमि उतरी सागर पार' प्रकरण

चली सेन कछु बरनि न जाई। गर्जहिं मर्कट भट समुदाई॥ २॥
सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव* कृपाल सिंधु-बहुताई॥ ३॥
देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥ ४॥

शब्दार्थ—**सेतुबंध**=वह पुल जो लंकापर चढ़ाईके लिये बाँधा गया। पुल। अब इसे 'सेतुबंध रामेश्वर' कहते हैं। यह हिन्दुओंके चार मुख्य धामोंमेंसे एक है। **ढिग**=तट, किनारा, छोर, समीप, पास। **बहुताई**=बहुतायत, अधिकता, गहराई, विस्तार, अपारता। करुणा=वह मनोविकार जो दूसरोंके दु:खके ज्ञानसे उत्पन्न होता है और उनके दु:खको दूर करनेकी प्रेरणा करता है। दया। **कंद**=मेघ, यथा—*'कंद तड़ित बिच ज्यों सुरपतिधनु निकट बलाक-पाँति चलि आई'*—(गीतावली)। **समुदाई**=झुण्ड, समूह, गिरोह।

अर्थ—सेना चली, उसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। वानर-योधाओंके झुंड-के-झुंड गर्जते हैं॥ २॥ कृपालु रघुराई सेतुबन्धके किनारे (ऊँचेपर) चढ़कर समुद्रकी बहुतायत देखने लगे॥ ३॥ करुणाकन्द समर्थ स्वामी श्रीरामजीके दर्शनोंके लिये सब जलचरोंके सब वृन्द प्रकट हो गये अर्थात् जलके ऊपर आ गये॥ ४॥

नोट—(क) *'कछु बरनि न जाई'* अर्थात् अपार है। (ख) *'सिंधु बहुताई'* आदि कौतुक देखनेके सम्बन्धसे *'रघुराई'* पद दिया। राजा लोग कौतुक देखते ही हैं। यथा—*'अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई॥'* (६। ५। १) यहाँ जलजंतुओंपर कृपा करनेके सम्बन्धसे 'कृपाल' कहा। यथा—*'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥'* (१। १४६। ६) पुनः वानर-सेनापर भी कृपा करनेको हैं—शेष दोहा ४ देखिये।

पा०—'करुणाकन्द' कहा; क्योंकि जैसे मेघ श्याम और ऊँचाईपर होते हैं वैसे ही प्रभु श्यामवर्ण हैं और ऊँचेपर खड़े हैं। पुनः जैसे मेघके मीठे जलकी वृष्टिका सुख लेनेके लिये जलचर निकलते हैं वैसे ही प्रभुकी कृपा-दृष्टिरूपी वृष्टिके निमित्त सब उतरा आये।

पं०—१-'करुणाकन्द' हैं अतः इनके दर्शनके लिये अभय होकर प्रकट हुए। करुणामय हैं अतएव वैरी इनके सामने हमें न सता सकेंगे।

पं० २—'वृंद' अर्थात् जाति-जातिके झुण्ड एक साथ निकलते हैं।

गौड़जी—प्रभु करुणाके मेघ हैं। भक्तोंपर वात्सल्य भावसे शुचिस्मित होना ही दामिनीका दमकना है। कृपा विलोकनि, उस मेघसे वर्षाका होना है।

मा०म०—प्रभुको करुणाकन्द कहा। यहाँ रामजी श्याम मेघ हैं, नासामोती मानो दामिनी है, श्रीरामजीकी बातें करना मानो मेघका गर्जन है, यथा—*'बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं।'* (गी० १। ७१) और माधुर्य रूपका दर्शन ही मेघका बरसना है।

नोट—२ प्रभुके दर्शनार्थ जलचरोंका उतराना **'पंचम विभावना अलंकार'**, है; उनको यह ज्ञान कहाँ?—(वीर)

मकर नक्र नाना झख ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला॥ ५॥
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं॥ ६॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे॥ ७॥

शब्दार्थ—**मकर**=मगर। जल-जन्तुओंकी एक विशेष जाति जिसमें अनेक उपजातियाँ हैं, जो सबसे भयानक और हिंसक समझी जाती है। **नक्र**=नाक। घड़ियालकी जातिके जल-जीवोंका प्रतिनिधि। **झख**=मत्स्य, मीन, मछली। व्यालु=उरगजातिके जलचर।

* चितइ। चितये।

अर्थ—अनेक जातिके मगर, नाक, मत्स्य, उरग जो सौ-सौ योजनके बड़े लंबे-चौड़े ऊँचे शरीरवाले हैं॥ ५॥ कुछ ऐसे भी हैं जो उन्हें भी खा जाते हैं और कुछ ऐसे हैं कि जिनके डरसे ये (दूसरे) भी डरते हैं॥ ६॥ पर ये सब विषमता भूलकर प्रभुको देख रहे हैं, टाले (हटानेसे) नहीं टलते। सबके मनमें हर्ष है, सभी सुखी हो गये॥ ७॥

नोट—१-*'अइसेउ एक तिन्हहिं जे खाहीं ······'* इति। हनुमन्नाटकमें अंगदने रावणसे तीन प्रकारके विशाल शरीरवाले मत्स्योंकी चर्चा की है। यथा—**'अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तर। तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः॥'** (अङ्क ८ श्लोक ४७) अर्थात् शतयोजनके विस्तारवाला एक तिमि नामवाला मत्स्य है और उसको निगल जानेवाला एक तिमिङ्गिल मत्स्य है और इसको भी निगल जानेवाला राघव मत्स्य है। (व्रजरत्न भट्टाचार्यने अन्तिम चरणका अर्थ किया है कि 'रामचन्द्रजी तो उसका भी नाश करनेवाले हैं)। मछलियाँ एक-दूसरेको खा जाती हैं, यह नित्यके अनुभवकी बात है। इसी तरह मगर, घड़ियाल, व्यालादि जलचरोंकी जातियाँ होती हैं। बड़ा छोटेको खा जाता है। विनयमें भी कहा है—*'जलचर बृंद जाल अन्तर्गत होत सिमिट एक पासा। एकहि एक खात लालच बस नहिं देखत निज नासा॥'* (वि० ९२)

नोट—२ ऊपर जो कहा है कि *'चितव कृपालु सिंधु बहुताई'* वह बहुताई इस वर्णनसे दिखायी कि ऐसे-ऐसे परम विशाल शरीरधारी जीव उसके भीतर एक-दूसरेसे छिपे हुए ऐसे पड़े हैं कि कहीं पता भी नहीं चलता। ऐसा अथाह और अपार यह सिंधु है!

नोट—३ एक-दूसरेको खा जानेवाले तीन जातिके विशाल जलचरोंका वर्णन करके *'प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे'* यह कहनेका भाव यह है कि *'छबि समुद्र हरि रूप'* के दर्शनमें सब ऐसे निमग्न हो गये कि परस्परका वैर-भाव जाता रहा। प्रभुके दर्शनका यही प्रभाव है, यथा—*'जिन्हहिं निरखि मग साँपिन बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥'* (२। २६२। ८) *'करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा। फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मृगबृंद बिसेषी॥'* (अ० १३८। १-२)

ऐसे भी निर्भय हो स्थिर हो गये हैं। प्रभु सबको ही प्राणोंसे भी प्यारे हैं, यथा—*'प्रानहु ते प्रिय लागहिं सब कहँ राम कृपाल', 'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी'*—(कौशिकवचन)

देखिये, जनकपुर-यज्ञशालामें प्रभुको देख मनुष्योंकी ऐसी ही दशा हुई थी, सब देखकर सुखी हुए और देह-सुध भूल एकटक प्रेमपूर्वक देखने लगे थे। यथा—*'देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥'* (१। २४४। ३)

पं०—१ *'मन हरषित सब भए सुखारे'* से मन और तन दोनोंसे सुखी जनाया। २—यहाँ यह भी दिखाया कि जहाँ कोई छोटा प्राणी भगवान्का दर्शन कर रहा हो वहाँ बड़ा उसको भय देकर हटा नहीं सकता। प्रभुके सामने छोटे-बड़े, नीच-ऊँचका भेद नहीं है। प्रभुके दर्शनसे सभी सुखी होते हैं, यथा—*'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुख चंद निहारी॥'* (अ० १)

करु०—दोनों भाइयोंको देख वे परमानन्दसे परिपूर्ण हो रहे हैं, जड़ीभूत हो गये हैं, शरीर-सुध भूल गयी। ऐसी समाधि दशा योगियों, मुनियोंको दुर्लभ है जो इनको रामकृपासे प्राप्त हुई है। यहाँ अतिशृङ्गाररसमें शान्तरस और परम भक्ति जानो।

तिन्ह की ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरिरूप निहारी॥ ८॥
चला कटकु प्रभु-आयसु पाई*। को कहि सक कपिदल बिपुलाई॥ ९॥

अर्थ—उन जलचरोंकी आड़में जल नहीं दिखायी पड़ता! वे भगवान्का रूप देख आनन्द और मनरागमें मग्न हो गये॥ ८॥ प्रभुकी आज्ञा पाकर सेना चली, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वानरसेनाकी बहुतायतको कौन कह सके? अर्थात् कोई मूर्ख ही भले कहे और तो कोई कह ही नहीं सकता; क्योंकि वह तो अपार है॥ ९॥

* 'चला कटकु कछु बरनि न जाई'—(का०)। मा० म० और भा० दा० का पाठ ऊपर दिया गया है।

नोट—१ *'मगन भए हरिरूप निहारी'* इति। यह ऐसा ही सुन्दर मनोहर रूप है कि जड़-चेतन—सभी देखकर इस छबि-समुद्रमें डूब ही जाते हैं। देखनेसे तृप्ति नहीं होती, जी नहीं भरता। यथा—*'खगमृग मगन देखि छबि होहीं। लिए चोरि चित राम बटोहीं॥'* (अ० १२३। ८) *'छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनुसतरूपा॥'* (१। १४८)

श्रीरघुनाथजी सर्वात्मा राम हैं अतएव जड़-चेतन सभी आकर्षित होते हैं। जैसे श्रीसीताजी इनकी छबि देख चित्रलिखी-सी रह गयी थीं, यथा—*'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी॥'* (१। २६४), तथा ये सब जलपर स्थिर हैं, हिलते-डोलते नहीं।

नोट—२—*'चला कटकु····'* इति। पूर्व सेनाका चलना कहना प्रारम्भ किया—*'चली सेन कछु बरनि न जाई'*। बीचमें सिंधु-बहुताई और जलचरोंका हरिदर्शन कहा, क्योंकि इसका भी प्रयोजन सेना उतरनेमें पड़ेगा। अब फिर वहींसे प्रसङ्ग उठाया।—*'चला कटकु····'*।

दो०—सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभपंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि-चढ़ि पारहि जाहिं॥ ४॥

अर्थ—सेतुबंधपर बहुत ही भीड़ हो गयी (कि चलनेको रास्ता नहीं मिलता; अतएव कुछ) वानर आकाशमार्गसे उड़ते जा रहे हैं और कितने तो जलचरोंपर चढ़-चढ़कर पार जा रहे हैं॥ ४॥

नोट—१-ऊपर बताया कि सेना अपार है—*'को कहि सक कपि दल बिपुलाई'*। इसीसे अब कहते हैं कि ४० कोस चौड़े और ४०० कोस लम्बे सेतुपर भी तिलभरकी जगह नहीं है। इस समय सभी सबसे आगे पार हो जानेके लिये लालायित हैं। इसलिये जो अत्यन्त उत्साही हैं उनका मन रोके न रुका, वे आकाशसे उड़ते हुए चले। जो आकाशसे जानेको समर्थ न थे वे जलचरोंपर चढ़कर पार जाने लगे।

नोट—२ ऊपर जो जलचरवृंदका वर्णन हुआ उसका कारण यहाँ खोला। सेना अपार थी, सेतुबन्ध उसके लिये बहुत छोटा था; अतएव वानरोंकी सहायताके लिये एवं जलचरोंको कृतार्थ करनेके लिये 'सेतु ढिग' खड़े होकर कृपालु प्रभु सिन्धुको देखने लगे थे। ये जलचर इस समय सेतुका काम दे रहे हैं, सेनाको पार करनेमें सहायक हुए—यह भी प्रभुकी कृपासे। ये सेतुका काम देंगे, इसीसे प्रथम ही इनका 'टाले न टलना' और 'हरिरूप देखकर मग्न हो जाना' कहा। प्रभुदर्शनके कारण ये जलचर अचल स्थित हो गये हैं।

गगनपन्थसे पार जाना यहाँ कहकर सुन्दरकाण्डके *'जिय संसय कछु फिरती बारा'* पर जो अनेक भाव लोग कहते हैं उनका निषेध कर दिया है। हनुमान्‌जीको कार्य सौंपा गया; इसीसे इन सबने संशय प्रकट किया, यही सिद्ध रखा।

सिंधु पार जानेके तीन मार्ग

रा० प्र०—तीन मार्गसे जाना कहकर जनाया कि सेतुबन्धन केवल मर्यादा-पालनार्थ है। और सिन्धुने जो सहायता करनेको कहा था,—*'करिहउँ बल अनुमान सहाई'*—वह भी सफल हो गया (क्योंकि जलचर उसीमें थे जो इस समय सेतुरूप हो रहे हैं)।

पाँ०—श्रीगोस्वामीजीने यहाँ समुद्र उतरनेवालोंके लिये तीन रास्ते कहे, इसका हेतु यह है कि संसार-समुद्र उतरनेके भी तीन मार्ग हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। जो सेतुपर चढ़कर जाते हैं वे कर्मकाण्डी हैं, जो जलजन्तुओंपर चढ़कर जाते हैं, वे उपासक हैं और जो आकाशमें उड़कर जाते हैं वे ज्ञानी हैं। अन्तमें इन तीनोंको एक ही फल मिलता है—'रघुनाथजीकी प्रसन्नता, भक्तिरूपा जानकीजीकी प्राप्ति और मोहादिरूपी शत्रु रावणादिका नाश।'

अन्य लोगों (बंदन पाठकजी, मा०म०) ने जलचरको कर्ममार्ग और सेतुको उपासनामार्ग माना है। उनका मत है कि—जलचर और कर्ममार्गमें समता यह है कि दोनोंमें डूबनेका भय रहता है, पार कर दे तो कर दे, पर निश्चय नहीं है। और सेतु और उपासनामार्गमें समानता यह है कि दोनोंमें श्रम नहीं

और न गिरने या डूबनेका डर है, दूसरे यह सबको सुगम है, सब इसके अधिकारी हैं; यथा—*'कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥'*, *'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥'* (७। ४६; ७। ४५) और *'अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहिं जाहिं'*(बा० १२) नभमार्ग और ज्ञानमें समता वह है कि दोनों निरवलंब हैं, सब इसके अधिकारी नहीं हैं, यथा—*'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥'* (७। ४५। ३), *'ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥'* (७। ११९। १) यहाँ उपासना, ज्ञान, कर्म यह क्रम है जैसे संतसमाज-प्रयागमें।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि—बंदन पाठकजीका मत उचित है। जलचरोंपर चढ़कर पार होना कर्ममार्ग है। कर्ममार्ग गहन होता है। जैसे गङ्गा, यमुना और सरस्वती भी तीन मार्गके प्रदर्शक हैं। उनमें *'कर्मकथा रबिनंदिनि बरनी'*। सागरकी उत्पत्ति भी रवि-(रविकुल-) से है और यह यमुनासे भी गहन अपार है। तीसरा नभपन्थ है जो योगियोंका ज्ञानमार्ग है; *'योग ते ज्ञाना'* कहा ही है।

अस कौतुक बिलोकि द्वौ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई॥ १॥
सेन सहित उतरे रघुबीरा। कहि न जाइ कपि जूथप भीरा॥ २॥

अर्थ—दोनों भाई ऐसा कौतुक देख हँसे। हँसकर कृपालु रघुनाथजी चले॥ १॥ रघुवीर श्रीरामचन्द्रजी सेनासहित समुद्र पार उतरे। वानरों एवं वानर-यूथपतियोंकी भीड़ कही नहीं जा सकती (कि कितनी है)॥ २॥

नोट—१ (क) कौतुक जलचरोंका एवं वानर-सेनाका। कौतुकका प्रसंग ४ (३) से दोहा ४ तक कहा। *'सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु बहुताई॥'* उपक्रम है और *'अस कौतुक बिलोकि ""कृपालु रघुराई'* उपसंहार।

(ख)—यहाँ *'द्वौ भाई'* पद देकर जनाया कि 'सेतुढिग' जब श्रीरामजी चढ़े तब लक्ष्मणजी भी साथ ही थे। (ग)—अभीतक सेनाका आगे जाना कहा, पीछेसे दोनों भाइयोंका। इसमें एक कारण यह भी है कि ऐसा न होता तो भय था कि जलचर इधर-उधर हिलते-डोलते जिससे वानरोंका डूबना सम्भव था जो उनपर चल रहे थे। सेना और प्रभु साथ-साथ पार उतरे। (घ) श्रीसुग्रीवजीने श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना की कि आप हनुमान्‌जीकी पीठपर सवार हो लें और लक्ष्मणजी अंगदपर। श्रीरामजीने उनकी सलाह मानकर ऐसा ही किया! आगे प्रभु हैं, सुग्रीवादि साथ हैं। वानर कोई तैरते हैं, कोई उड़ते जाते हैं और कोई सेतुमार्गसे चले जा रहे हैं। '**हनूमन्तं त्वमारोह अङ्गदं त्वथ लक्ष्मणः। अयं हि विपुलो वीर सागरो मकरालयः॥ वैहायसौ युवामेतौ वानरौ धारयिष्यतः। अग्रतस्तस्य सैन्यस्य श्रीमानामः सलक्ष्मणः॥ जगाम धन्वी धर्मात्मा सुग्रीवेण समन्वितः। अन्ये मध्येन गच्छन्ति पार्श्वतोऽन्ये प्लवङ्गमाः॥ सलिलं प्रपतन्त्यन्ये मार्गमन्ये प्रपेदिरे। केचिद्वैहायसगताः सुपर्णा इव पुप्लुवुः॥**' (वाल्मी० ६। २२। ७८—८१) मानसका मत यह है कि प्रभुने आज्ञा दी कि कटक चले—*'चला कटक प्रभु आयसु पाई।'* इसलिये कुछ सेना आगे है कुछ पीछे रह गयी, उसके पार करनेके निमित्त दोनों आनन्दकन्द खड़े हैं। सेनाको पार करके आप उतरे इसीसे आगे लिखते हैं कि सेनासहित रघुनाथजी उतरे, यथा—*'सेन सहित उतरे रघुबीरा'*। (मयूख)

(ङ) पूर्व सेनाकी अपारता कही थी—*'को कहि सक कपिदल बिपुलाई'* (४। ९), अब कहते हैं कि यूथपतियोंकी भीड़का भी अंदाजा नहीं किया जा सकता (तब भला सेनाकी कौन कहे?)।

(च) 'उतरे' अर्थात् समुद्र पार हुए। इस शब्दसे यह भी सूचित करते हैं कि ये हनुमान् और अंगदपर सवार थे, नभमार्गसे आये और पार तटपर उतरे।

नोट—२ सेतुबंध और सेनाके पार होनेमें एक मासका समय लगा यह महाभारतका मत है। यथा—'**विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम्। """ससैन्यः सेतुना तेन मासैनैव नराधिप॥**' (वनपर्व अ० २८३ श्लो० ५०) अर्थात् विभीषणका मत मानकर रामजीने समुद्रको पार किया। सेनासमेत सेतुद्वारा एक मासमें उतरे।

स्कन्द पु० ब्राह्मखण्ड अ० ३० में लिखा है कि पौष शुक्ल १० से सेतुबन्धनका कार्य प्रारम्भ हुआ और त्रयोदशीको पूरा हुआ। चतुर्दशीको सुवेलपर्वतपर पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीने सेनाका पड़ाव डाला। पूर्णिमासे लेकर द्वितीयातक तीन दिनोंमें सारी सेना समुद्र पार करके लंकामें पहुँची। यही मत प० पु० (पातालखण्ड अ० ३६) का है।

मानसका मत प० पु० तथा स्कन्द पु० के अनुकूल जान पड़ता है। अन्तर इतना अवश्य है कि उपर्युक्त पुराणोंमें श्रीरामचन्द्रजीका प्रथम ही पहुँचना लिखा है और मानसके मतानुसार समस्त सेनाके साथ ही श्रीरामचन्द्रजी पार उतरे।

तिथियोंमें मतभेद होनेसे गोस्वामीजीने कोई तिथि न देकर सब मतोंकी रक्षा की है।

नोट—३ सेना कैसे टिकी? वाल्मी० सर्ग २४ में लिखा है कि रामजीने आज्ञा दी कि पुरुष-व्यूहके मध्यमें नीलसहित अंगद अपनी सेनासहित अवस्थान करें। उसके दाहिने ऋषभ और बायें दुर्धर्ष गन्धमादन वानर सेनासहित रहें, हम लक्ष्मणसहित आगे रहेंगे। जाम्बवान् और सुषेण वेगदर्शी कुक्षिकी रक्षा करें तथा सुग्रीव इस सेनासमूहके जघन देशकी रक्षा करें। (श्लो० १४—१८)

सेतुबन्धन-समुद्र-उल्लङ्घन-प्रकरण समाप्त हुआ।

सिंधु पार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहुँ आयसु दीन्हा॥ ३॥
खाहु जाइ फल मूल सुहाए। सुनत भालु कपि जहँ तहँ धाए॥ ४॥

शब्दार्थ—**डेरा**=पड़ाव, थोड़े दिनके लिये निवास। डेरा करना=टिक रहना, निवास करना, ठहरना। मूल=कंद आदि।

अर्थ—प्रभु-(श्रीरामचन्द्रजी-) ने समुद्रपार डेरा डाला और सब वानरोंको आज्ञा दी कि जाकर सुन्दर फल-मूल खाओ। यह सुनते ही रीछ और वानर जहाँ-तहाँ दौड़ पड़े॥ ३-४॥

नोट—१ पार उतरकर तटपर सुग्रीवने सेना ठहरायी जहाँ फल-मूल परिपूर्ण थे। यथा—'**वानराणां हि सा तीर्णा वाहिनी नलसेतुना। तीरे निविविशे राज्ञा बहुमूलफलोदके॥**' (वाल्मी० २२। ८३) तत्पश्चात् प्रभुने लक्ष्मणजीसे कहा कि जहाँ शीतल जल और फलमूल हों वहाँ व्यूह रचकर रहें। यथा—'**सौमित्रिं सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत्॥ परिगृह्योदकं शीतं वनानि फलवन्ति च। बलौघं संविभज्येमं व्यूह्य तिष्ठेम लक्ष्मण॥**' (वाल्मी० २३। १-२) इसके बाद सुबेल-तटपर गरुड़व्यूह रचकर टिके। यह सुबेलपर्वत सिंधुतटपर है। यथा—'**रामः सुवेलाद्रितटेऽवतीर्णः समुद्रमुल्लङ्घ्य विकीर्णसैन्यः।**' (हनुमन्नाटक), '**ततस्तमक्षोभ्यबलं लंकायां नृपतेश्चराः। सुवेले राघवं शैले निविष्टं प्रत्यवेदयन्॥**' (वाल्मी० ३०। १)

नोट-२—'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, इसीसे शत्रुके राज्यप्रदेशमें भी वानरोंको निर्भय फल-मूल जहाँ चाहें तहाँ जाकर खानेकी आज्ञा दी। आप सबकी रक्षाके लिये सर्वत्र पर्याप्त हैं।

नोट—३ *'सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा'* इति। (क) सब वानरोंको सेतुबन्धन एवं पार उतरनेमें श्रम हुआ है। जब सेना किष्किन्धासे उत्तर तटपर आकर उतरी थी तब वानरोंने वहाँ फल खाये थे, यथा—*'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर। जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर॥'* (सुं० ३५) उसके बादसे फिर कार्यमें लगे रहे, बीचमें फल खानेको न मिले थे। वे सब भूखे भी अवश्य होंगे, यह जानकर फलमूल खानेकी आज्ञा दी। —यह सेवकपर प्रभुका प्रेम दिखाया। (ख) उत्तर तटपर सेनाको आज्ञा देना नहीं लिखा, वहाँ वे स्वयं खाने लगे थे— *'जहँ तहँ लागे खान फल ·····'*। यहाँ आज्ञा देनेकी आवश्यकता थी क्योंकि शत्रुकी पुरी है, रावणसे इन्द्रादि तक डरते हैं तब उसके नगरमें निर्भय फल खानेका साहस न हो सकता था। आज्ञा पाकर वे निर्भय हो गये। इसी प्रकार श्रीसीताजीकी आज्ञा पानेपर हनुमान्जीने फल खाये थे।

नोट—४(क) *'सुहाए'* पदसे प्रभुका उनपर प्रेम और प्रसन्नता दिख रही है। सुहाये अर्थात् मधुर फल खाओ। यथा—*'रघुपति चरन हृदय धरि तात मधुर फल खाहु।'* (सीताजीकी आज्ञा हनुमान्जीको)। (बं० पा०—*'खाहु जाइ·····'* यह मानो सेनाको रसदका चिट्ठा बँटा।

(ख) *'खाहु जाइ फल मूल सुहाए।'.....'* इति। श्रीहनुमान्‌जीने सिंधुपार पहुँचनेपर वहाँ सुन्दर फल-फूलसे लदे वृक्ष देखे थे। यथा। *'बारिधि पार गयउ मतिधीरा॥ तहाँ जाइ देखी बन सोभा। गुंजत चंचरीक मधु लोभा॥ नाना तरु फल फूल सुहाये। खग मृग बृंद देखि मन भाये॥'* (५।३।५—७) यह वही सागरोपरान्त सिंधुतटका वन है जहाँ इस समय सेना पार आकर टिकी है, यह 'सुहाए' विशेषणसे भी सूचित किया है।

जैसे हनुमान्‌जीने *'फल मूल सुहाए'* देखकर भी उनको नहीं छुआ था वैसे ही इन वानरोंने भी स्वामि-कार्यमें क्षुधा-तृषाको भुला दिया था, इस तरह श्रीहनुमान्‌जीके *'राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ बिश्राम'* ये वाक्य इन सभी वानरोंके सम्बन्धमें भी चरितार्थ हुए। (प० प० प्र०) (ग) **'धाए'** पद भी निर्भयता जनाता है। वानर-सेना अपार है इससे जो जहाँ पाते हैं वहीं दौड़े हुए जाकर खाने लगते हैं। पंजाबीजी लिखते हैं कि लूटने-मारनेकी भी आज्ञा लख पड़ती है।

सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु* कालगति त्यागी॥ ५॥
खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं। लंका सनमुख सिखर चलावहिं॥ ६॥

शब्दार्थ—**सिखर** (शिखर)=सबसे ऊपरका भाग, चोटी। **'हित'**=प्रसन्नता, लाभ मंगल, प्रेम।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके हितके लिये सब वृक्ष ऋतु और कुऋतु (फसल-बेफसल) तथा समयकी गति (चाल-) को छोड़कर फले॥ ५॥ (वानर और रीछ) मीठे-मीठे फल खाते, वृक्षोंको हिलाते और लंकाकी ओर पर्वतके शिखरोंको फेंकते हैं॥ ६॥

पं०—*'राम हित लागी'*। यहाँ रामहित यह कि उनकी सेना बिना बहुत फलमूलके तृप्त न हो सकेगी, उसकी तृप्तिके लिये फले। अथवा, २—शत्रुका अहित होनेसे अपना हित होता है। जिस देशमें बिना ऋतुके वृक्ष फलते हैं उसके राजाका नाश होता है। इस प्रकार रावणकी पुरीमें अकालके कुसुमादिके होनेसे उसका नाश होगा, जिससे श्रीरामजीका हित होगा। [नोट—मिलान कीजिये—*'भयदायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी॥'* (३। २४। ८), **'अकालकुसुमानिव भयं संजनयन्ति हि।'** (मत्स्यपुराण) अर्थात् अकालके फूल देशमें भय उपजानेवाले होते हैं।]

रा० प्र०—*'रितु अरु कुरितु कालगति त्यागी'* इति। ऋतु अर्थात् जिसमें फलना चाहिये, और जितनेका नेम है कि ५, २५, ३० आदि फलें उतना फलना यह ऋतु है। ऋतुके विपरीत होना अऋतु है वा कुऋतु। काल अर्थात् जाड़ा, गर्मी, वर्षा।

बै०—बहुत वृक्ष ऐसे हैं कि बहुत कालतक फले रहते हैं पर उनके फल एक ही कालमें पकते हैं; जैसे इमली। सो वे सब पक्व आये; यही 'कालगति' का त्याग है।

बं० पा०—*'कालगति त्यागी'* से बालवृक्षोंका भी फलयुक्त होना सिद्ध हुआ। पुनः भाव कि जो न ऋतुमें फलें न कुऋतुमें, वे भी फले, क्योंकि राम सर्वात्मा हैं।

नोट—१ भाव यह है कि जो ऋतुमें होने चाहिये वे भी हैं और जो उस ऋतुमें न फलने चाहिये वे भी फलोंसे लद गये हैं। समय है या नहीं है इसका विचार नहीं रह गया, सभी एकदम फलयुक्त हो गये, यह सब श्रीरामजीकी कृपादृष्टिसे हुआ। यथा—*'बिनहीं रितु तरुवर फरैं सिला द्रवहिं जल जोर। राम लषन सिय करि कृपा जब चितवहिं जेहि ओर॥'* (दोहावली १७३) बंदन पाठकजी लिखते हैं कि *'रामहित फले'* अर्थात् श्रीरामजीकी ही आज्ञासे वह नियम था कि ऋतुके अनुसार फलते थे और उन्हींकी प्रेरणासे कुऋतुमें फल रहे हैं, क्योंकि ये सबके अन्तरात्मा हैं; यथा—*'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।'* (२। २९०) और, इनकी आज्ञा सबको शिरोधार्य है, यथा—*'ईस रजाइ सीस सबही के।'* (२। २८२), *'राम रजाइ सीस सबही के।'* (२। २५४। ८)

नोट—२ *'खवाहीं मधुर फल बिटप हलावहिं।'* इति। (क) मधुर फल खाना और वृक्ष हिलाना यह तो वानरोंका स्वभाव ही है। पर पाँड़ेजीका मत है कि 'इतने फल फले कि मीठे-मीठे खाते हैं और

* 'रितु अनरितु अकाल'—(का०), 'रितु अनरितुहि कालगति'—(मा० म०)

सब छोड़ देते हैं। वा सबमें प्रभुकी प्रेरणासे मीठे ही फल लगे हैं। इसीसे प्रभुने कहा था कि *'खाहु जाइ फल मूल सुहाये'।* (ख) विटप हिलानेका दूसरा भाव यह है कि जो वानर नीचे हैं वे भी खावें।

नोट—३ *'सिखर चलावहिं'।* (क) पं०—शिखरसे वृक्षोंके शिखर भी ले सकते हैं। वृक्षोंको तोड़कर फेंकते हैं, क्योंकि हनुमान्‌जीसे सुन चुके हैं कि वृक्ष तोड़ते देख राक्षसोंने आकर युद्ध किया था। ये भी इसीलिये तोड़ते हैं कि वे आवें। जब वे नहीं आये तब पर्वत-शिखर चला-चलाकर फेंकने लगे। इस तरह ये सेनासहित श्रीरामजीका आगमन और बल सूचित कर रहे हैं।

(ख) रा० शं०—तीन प्रकारके वानर यहाँ कहे गये और तीन ही प्रकार यहाँ फलका खाना दिखाया है—*'खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं'* और *'लंका सनमुख सिखर चलावहिं'।* जो सबसे बड़े बलवान् हैं वे वृक्ष हिलाकर फल गिराकर खाते हैं, जो मध्यम दर्जेके बलवान् हैं वे वृक्षोंपर चढ़कर खाते हैं और जो साधारण हैं वे पत्थरोंसे झोर-झोरकर खाते हैं। लङ्काकी ओर फेंकनेका कारण यह है कि लङ्काकी ओर वानरसेना नहीं है इससे उसी ओरके वृक्षोंपर पत्थर चलाते हैं।

जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं। घेरि सकल बहु नाच नचावहिं॥ ७॥
दसनन्हि काटि नासिका काना। कहि प्रभु सुजसु देहिं तब जाना॥ ८॥

अर्थ—जहाँ कहीं फिरते हुए निशाचरको पा जाते हैं वहीं सब उसे घेरकर बहुत नाच नचाते हैं॥ ७॥ दाँतोंसे उसके नाक-कान काटकर प्रभुका सुयश कहकर (वा, जब वह प्रभुका सुयश कहता है) तब उसे जाने देते हैं॥ ८॥

नोट—१ *'जहँ कहुँ'* का भाव कि निशिचर इधर कोई आते नहीं, क्योंकि उनके मनमें लंकादहनके समयसे डर समा गया है, यथा—*'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब तें जारि गयउ कपि लंका॥'* (५। ३६। १) एक्का-दुक्का भूला-भटका जो कोई मिल जाता है उसे पकड़ लेते हैं।

नोट— २—*'काटि नासिका काना'* । इति। नाक-कान काटना तो लक्ष्मणजीके शूर्पणखाके नाक-कान काटनेसे सीखा है; इसीसे शुक सारन दूतोंको भी पकड़नेपर उनके भी नाक-कान काटने लगे थे, यथा—*'जो हमार हर नासा काना। तेहि कौसलाधीस कै आना॥'* (५। ५२। ६) दूसरे, रावणने हनुमान्‌जीके लिये कहा था कि—*'अंग भंग करि पठवहु बंदर।'* यह शिक्षा रावणसे मिली; उसके अनुसार ये भी निशाचरोंका अङ्ग-भङ्ग करते हैं। नाक-कान काटते हैं, क्योंकि नकटे, बूचे अपनेको छिपा नहीं सकेंगे, दूसरे, उनको ऐसे जीवनसे ग्लानि होगी, वे अवश्य जाकर रावणसे समाचार कहेंगे, जैसे शूर्पणखाने कहा था, यथा—*'तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ।'* (३। २१) तब वह युद्धके लिये सेना भेजेगा। जैसे लक्ष्मणजीने शूर्पणखाद्वारा रावणको चुनौती दी थी वैसे ही वानर भी मानो उसे चुनौती दे रहे हैं।

पां०—नकटा-बूचा कर दिया क्योंकि प्रथम-प्रथम ऐसोंसे शत्रुका समाचार सुनना अमङ्गल है।

नोट—३ पूर्व जब निशाचर मिलते थे तब वानर उनको मार डालते थे, यथा—*'कतहुँ होइ निसिचर सैं भेंटा। लेहिं प्रान एक एक चपेटा॥'* (४। २४) पर यहाँ छोड़ देते हैं। कारण कि पूर्व यह समझा करते थे कि यही रावण है; दूसरे, पूर्व यह चिन्ता न थी कि वह रावणसे जाकर कहे और इस समय रावणतक अपने आगमनका समाचार पहुँचाना है जिसमें और भी निशिचरोंकी यही दशा कर सकें।

नोट—४ *'कहि प्रभु सुजसु'।* यथा—*'कपिलीला करि तिन्हहिं डेरावहिं। रामचंद्र कर सुजस सुनावहिं॥'* (४३। ५), *'कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ रामजस गावत भये।'* (४०) तथा यहाँ रामका सुयश सुनाते हैं—शूर्पणखाकी गति, खरदूषणादिका वध, बालीवध इत्यादि सुयश है; पुनः कुछ लोग 'कहि' का भाव यह भी कहते हैं कि उनसे कहते हैं कि, 'रामचन्द्रजीकी जय कहो।' जब वह कहता है तब जाने देते हैं। 'कहि' का अर्थ 'कहो' भी होता है।

वि० त्रि०—सम्भावना यह थी कि यद्यपि सेतुबन्धमें शत्रुकी ओरसे कोई बाधा नहीं हुई, पर पार जाते ही शत्रुसे मुठभेड़ बिना हुए नहीं रहेगी, अतः पार पहुँचनेपर भी सेना जमी हुई एकत्रित थी, पर जब सरकार

स्वयं आ गये, डेरा भी डाल दिया, पर शत्रुकी ओरसे कोई रुकावट नहीं हुई, तो सरकारने बंदरोंको स्वेच्छानुसार जाकर फल-मूल खानेकी आज्ञा दे दी। भूखे बंदरोंने पहिले तो फल खाये और फिर शत्रुके साथ छेड़-छाड़ करनेके लिये उत्पात आरम्भ किया। असंख्य बंदर हैं, पेड़ हिलाना जो आरम्भ किया तो सम्पूर्ण वन काँपने लगा। इतनेपर भी सगबगाते न देखकर स्वयं लङ्काकी ओर पर्वत-शिखर फेंकने लगे। युद्धके लिये बड़ा उत्साह है, पर कोई राक्षस दिखलायी ही नहीं पड़ रहे हैं। और तो कोई मिले नहीं,जो वनमें विचरते थे, वे बंदरोंके हाथमें पड़ गये, वे बंदी हो गये। बंदर लोग जानते ही हैं कि स्वातन्त्र्य खो देनेपर नाचना पड़ता है (यथा—*'धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचहि परिहरि लाजा॥')* अत: जहाँ-तहाँ उन्हें घेर-घेरकर तमाशाइयोंकी तरह खड़े हो गये, और उन्हें मार-मारकर नचाने लगे। एक प्रकारका नाच पसंद न आनेपर दूसरे प्रकारसे नाचनेके लिये विवश करते थे, इस तरह अनेक नाच नचाते थे। देखा कि इसे पूँछ तो है नहीं जिसे काटकर हनुमान्‌जीका बदला चुकावें, अत: नाक-कान काट लेते थे। शस्त्र कोई था नहीं अत: दाँतोंसे ही शस्त्रका काम लिया। भाव यह कि बिना नाक-कानका होकर वह जब जायगा, तब रावण किलेसे बाहर निकलेंगे (यथा—*'पूँछहीन बानर जब जाइहि। तब सठ निज नाथइ लै आइहि॥')*, पर जिसकी इतनी दुर्दशा की उसका कुछ भला भी करना चाहिये, अत: 'राजा रामचन्द्रजीकी जय' कहलाकर तभी उसका पिण्ड छोड़ते थे (यह—*'बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥'* का उदाहरण है)।

जिन्ह कर नासा कान निपाता। तिन्ह रावनहि कही सब बाता॥९॥
सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥१०॥

शब्दार्थ—निपातना=काटकर गिराना, नष्ट करना, यथा—*'केहि तव नासा कान निपाता'*। बन्धान= पुलका बाँधा जाना।

अर्थ—जिनके नाक-कान काट डाले गये उन्होंने रावणसे सब बातें कहीं॥ ९॥ कानोंसे समुद्रपर सेतुका बाँधा जाना सुनते ही रावण घबराकर दसों मुखोंसे बोल उठा॥ १०॥

नोट—१ *'कही सब बाता'* अर्थात् सेतुबन्धन, सेनासहित श्रीरामजीका लङ्कामें आगमन, अपार सेना, सेनाका बल, वृक्षादिका तोड़ना, अपना नचाया जाना और नाक-कान काटा जाना एवं रावणको चुनौती देना इत्यादि 'सब बातें' हैं। अपनी बीती सब कही।

नोट—२(क) *'बोलि उठा अकुलाना'*। आकुलताका कारण है कि वह स्वप्नमें भी नहीं समझता था कि सेना इस पार आ सकती है या सेतु बँध सकता है। यथा वाल्मीकीये युद्धकाण्डे—

'नहि शक्तिं प्रपश्यामि जगत्यन्यस्य कस्यचित्। सागरं वानरैस्तीर्त्वा निश्चयेन जयो मम॥' (१२। २६),
'समग्रं सागरं तीर्णं दुस्तरं वानरं बलम्। अभूतपूर्वं रामेण सागरे सेतुबन्धनम्॥' (२५। २)

अर्थात् वानर उस पारसे हमें जीतनेमें समर्थ नहीं हो सकते और जगत्‌में किसीकी शक्ति नहीं जो इस पार लड़ने आवे। सेतुबन्धका समाचार पा शुकसारन मन्त्रियोंको रावणने बुलाकर कहा कि पुल बाँधकर सेना आ गयी। हमने कभी किसीको ऐसा कार्य करते नहीं देखा। यह अभूतपूर्व आश्चर्यजनक कार्य हुआ—८ (७) देखिये। पुन: यथा—*'जिन्हके जीवन कर रखवारा। भयउ मृदुलचित सिन्धु बिचारा॥'* (सुं० ५३), *'सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी॥'* (१। १७८)

मन्दोदरी, माल्यवान् आदि सभीने सेतुबन्धन होनेसे ही प्रभुका मनुष्य न होना निश्चय किया है। (ख) दसों मुखोंसे एक साथ बोल उठा इसीसे 'दसमुख' नाम दिया। यही व्याकुलताका स्वरूप है जैसा आगे कहते हैं।

दो०—बाँध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति* उदधि पयोधि नदीस॥५॥

---

* कंपती—(गौड़जी)।

वन, नीर, वारि, तोय, कं० उद् और पय सबका अर्थ जल है।

अर्थ—क्या सत्य ही वननिधि, नीरनिधि, जलधि, सिन्धु, वारीश, तोयनिधि, कम्पति, उदधि,पयोधि,नदीशको बाँध लिया?॥ ५॥

नोट—रावणके दस मुख थे पर बोलता एक समय एक ही मुखसे था। इस समय समुद्र-बन्धनरूपी दुष्कर कर्म सुनकर घबरा गया, चित्त विशेष भ्रमित हो गया, इसी घबराहटमें समाचार देनेवालोंसे वह एक साथ ही दसों मुखोंसे समुद्रका एक-एक नाम लेता हुआ पूछने लगा कि क्या सत्य ही ऐसा हुआ? यथा सु० र० भ० चित्रप्रकरणे श्लो० ६१—

'श्रुत्वा सागरबन्धनं दशशिराः सर्वैर्मुखैरेकदा, तूर्णं पृच्छति वार्तिकान् सचकितो भीत्या परं सम्भ्रमात्।

बद्धः सत्यमपांनिधिर्जलनिधिः कीलालधिस्तोयधिः, पाथोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारान्निधिर्वारिधिः॥'

'सत्य' पदसे जनाया कि उसको विश्वास न होता था कि ऐसा सम्भव है। उसने शुकसारनसे कहा भी है कि समुद्रपर सेतु बाँधनेकी बातको मैं किस प्रकार विश्वास नहीं कर सकता, यथा—**सागरे सेतुबन्धं तं न श्रद्दध्यां कथञ्चन'** (वाल्मी० ६। २५। ३)।

रावणके दसों मुखोंसे दस नाम निकले। इस सम्बन्धमें वन्दन पाठकजीने निम्न श्लोक किसी नाटकके दिये हैं, उनसे मिलान कीजिये—

'पाषाणः पयसि प्रसन्नवपुषस्तिष्ठन्ति सेतुङ्गताः श्रुत्वैवं वदतां दसाननधरः क्रुद्धः समुद्रं प्रति।

धिक् त्वां नाम तवाम्बुधिः सलिलधिः पानीयधिस्तोयधिः पाथोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारान्निधिर्वारिधिः॥

पीतस्त्वं कलशोद्भवेन मुनिना ध्वस्तोऽसि देवासुरैराबद्धोऽसि च रामनामहरिणा शाखामृगैर्लङ्घितः।

नाम्नामारभटी तथैव भवतो लोकैरिवोद्घुष्यते पाथोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारान्निधिर्वारिधिः॥' (१-२)

पं० रा० चं० शुक्लजी—१ 'आश्चर्यको लेकर कविजन 'अद्भुत रस' का विधान करते हैं जिसमें कुतूहलवर्द्धक बातें हुआ करती हैं। पर इसका 'आश्चर्य' से मिलता-जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे कोई और अच्छा नाम न मिलनेके कारण हम 'चकपकाहट' कह सकते हैं और आश्चर्यके संचारीके रूपमें रख सकते हैं। पाश्चात्त्य मनोविज्ञानियोंने दोनों-(Wonder और Surprise) में भेद किया है। आश्चर्य किसी विलक्षण बातपर होता है—ऐसी बातपर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती। 'चकपकाहट' किसी ऐसी बातपर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मनमें न रही हो और जो एकाएक हो जाय। जैसे किसी दूर देशमें रहनेवाले मित्रको सहसा अपने सामने देखकर हम 'चकपका' उठते हैं। रामका सेतु बाँधना सुन रावण चकपकाकर कहता है—*'बाँधे बननिधि? नीरनिधि?'* इत्यादि। यह ऐसा ही है जैसा सहसा किसीका मरना सुनकर चकपकाकर पूछना—'अरे कौन? रामप्रसादके बाप? माताप्रसादके लड़के? शिवप्रसादके भाई? अमुक स्टेटके मैनेजर?' इस भावका प्रत्यक्षीकरण भी यह सूचित करता है कि गोस्वामीजी सब भावोंको अपने अन्तःकरणमें देखनेवाले थे, केवल लक्षण-ग्रन्थोंमें देखकर उनका सन्निवेश करनेवाले नहीं।

पं० रा० चं० शुक्लजी—२—स्वभावोक्तिका यह बड़ा ही अनोखा दृष्टान्त है। रावण भयसे अत्यन्त व्याकुल हो घबरा उठा यह उसके दसों मुखसे एक साथ ही दस भिन्न-भिन्न नामोंके सहसा निकल जानेसे ही दिखला दिया है।

वीरकवि—यहाँ भय या व्याकुलताकी वीप्सा है। घबराहटसे चित्तका विभ्रम होना आवेग संचारी भाव है।

निज बिकलता* बिचारि बहोरी। बिहँसि गएउ गृह करि भय भोरी॥ १॥

शब्दार्थ—भोरी करना=भुलाना।

अर्थ—फिर अपनी व्याकुलताको विचारकर, डरको भुलाकर और हँसकर वह महलमें चला गया॥ १॥

* यह पाठ का० और भा० दा० में है। 'व्याकुलता निज समुझि'—ना० प्र०।

नोट—१ *'बिचारि बहोरी'*। भाव कि जब चकपकाहटमें दसों मुखोंसे वही एक बात दस प्रकारसे निकल गयी तब वह स्वयं मनमें लज्जित हुआ कि मुझसे यह क्या हो गया। मैं ऐसा घबरा गया कि अपने ऊपर अपना वश न रह गया। तब यह सोचकर कि सभासद एवं समाचार देनेवाले सब समझेंगे कि मैं डर गया, वह अपनी व्याकुलता और भय छिपानेके लिये हँस दिया कि सेतुबंधनसे क्या होता है। यथा—'**यदि तावत्समुद्रे तु सेतुर्बद्धो यदृच्छया। रामेण विस्मयः कोऽत्र येन ते भयमागतम्॥**' (वाल्मी० ३६। १२; रावणवचन माल्यवान्प्रति) अर्थात् रामने अकस्मात् पुल बाँध लिया तो इसमें विस्मयकी क्या बात है जो तुम सब डर गये। इस तरह हँसकर शत्रुका निरादर किया।

नोट—२ यह सोचकर घर चला गया कि ऐसा न हो कि फिर ऐसी ही कोई बात निकल पड़े। (बै०) और, सभाको इससे यह जनाया कि कोई चिंताकी बात नहीं है, सब जाकर सुखसे विश्राम करो। पुनः *'करि भय भोरी'* का यह भी भाव हो सकता है कि इतनेपर भी वह निर्भय होकर भोग-विलासके लिये महलमें गया, भयको भुला दिया। यथा—*'परम प्रबल रिपु सीसपर तदपि न सोच न त्रास॥'* (१०)

नोट—३ किसीका मत है कि रावणको किसीने यह बताया था कि जब तेरे दसों मुखोंसे एक साथ ही एक ही बातके लिये दस शब्द निकल पड़ें तब जान लेना कि तेरा काल आ गया। यह विचार उसके मनमें आया। पर इसकी भी उसने परवा न की।

—मन्दोदरीका रावणको द्वितीय बार उपदेश—

मंदोदरी सुन्यो प्रभु आयो। कौतुकही पाथोधि बँधायो॥ २॥
कर गहि पतिहि भवन निज आनी। बोली परम मनोहर* बानी॥ ३॥

शब्दार्थ—**पाथोधि**=समुद्र। पाथ=जल।

अर्थ—मंदोदरीने जब सुना कि प्रभु आये हैं और खेलहीमें उन्होंने समुद्रको बँधा लिया॥ २॥ तब वह हाथ पकड़कर पतिको अपने महलमें लाकर वह अत्यन्त सुन्दर वाणी बोली॥ ३॥

नोट—१ *'सुन्यो'*। दूतियोंसे सुना, यथा—*'दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी॥'*—(सुं० ३५) प्रथम प्रभुका सेनासहित लंकामें आना सुना, तब सेतु बँधवाना सुना, अतएव उसी क्रमसे लिखा। प्रथम वानरसेनाको फल खाते देख आगमन जाना, पीछे पता लगानेपर कि कैसे आये, सेतुबन्धन जाना वैसा ही दूतियोंने कहा।

नोट—२ *'प्रभु आयो'* इति। कौतुकसे ही समुद्र बँधा लिया; अतएव 'प्रभु' पद दिया। यथा—*'सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ। अब बिलंबु केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु॥'* भाव यह कि समुद्रमें पुल बाँधना असम्भव था सो इन्होंने खेलमें वानरोंसे बँधा लिया; अतएव ये 'प्रभु' ही हैं। ये सब कुछ करनेको समर्थ हैं।

नोट—३ *'कौतुकही'* अर्थात् सेतुरचनामें किंचित् श्रम न हुआ। यथा—*'करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं'*, *'कौतुक एक भालु कपि करहू'*, *'अति उतंग तरु सैल गन लीलहि लेहिं उठाइ। आनि देहिं नल नीलहिं रचहिं ते सेतु बनाइ'॥'*

'कर गहि पतिहि भवन निज आनी'

पं०—हाथ पकड़कर लाना। (१) सम्मान है। वा, (२) इससे कि किसी और रानीके महलमें न चले जायँ। उपदेश करनेके लिये संग ले आयी। पुनः (३) ग्रन्थकारका अभिप्राय यह भी है कि निशिचरोंके नाक-कान कटे देख और सेतुबन्धन सुनकर भी यह नहीं समझता, अतएव मानो अन्धा जानकर हाथ पकड़कर लायी। यथा—*'परसुराम से सूर सिरोमनि पलमें भए खेत के धोखे। कालिकी बात बालि की*

* अति बिनीत मृदु।

सुधि करि समुझहि ता हित खोलि झरोखे॥ जासु प्रसाद जनमि जग पुरखनि सागर सृजे खने अरु सोखे। तुलसिदास सो स्वामि न सूझत नयन बीस मंदिर के से मोखे॥' (गी० ५। १२)

पाँ०—रावण घबराया हुआ है, मन्दोदरी उसकी दशा देख एवं सिखावनका उत्तम अवसर जान उसे हाथ पकड़कर अपने महलमें ले गयी।

वीर—हृदयमें भयका स्थायीभाव होनेसे रावण रंगमहलका मार्ग भूल गया, तब मंदोदरी हाथ पकड़कर मंदिरमें ले गयी।

वि० त्रि०—रावण सपनेमें भी नहीं सोचते थे कि रामजी समुद्रपर सेतु बाँधकर इस पार आ सकेंगे। इस समाचारसे अत्यन्त विकल हो गये। असावधानताके कारण दसों मुखसे 'समुद्र' शब्द निकल पड़ा। भरे दरबारकी बात है, फैलते देर न लगी। मन्दोदरीने भी सुना। तबतक रावणकी सवारी आ गयी। मन्दोदरी समझती थी कि आज ये मेरे महलमें नहीं आवेंगे, किसीका समझाना इन्हें अच्छा नहीं लगता, अतः किसी दूसरे महलमें न चले जायँ, अतः हाथ पकड़कर अपने महलमें ले गयी। उसे आज रावणको समझाना है; जीवन-मरणका प्रश्न उपस्थित है। युद्धारम्भ हो जानेपर समझानेका अवसर नहीं रह जाता, और अभिमानी पुरुष दस आदमीके बीचमें समझानेमें अपनी अप्रतिष्ठा मानता है, अतः रावणके पास गयी; देखा कि सचमुच दूसरे महलकी ओर चले जा रहे हैं, अतः हाथ पकड़ लिया और अपने महलमें ले गयी।

बं० पा०—भाव कि आपने हमारा पाणिग्रहण किया है, इसलिये मुझको अधिकार है कि आपको हाथ पकड़कर महलमें ले चलूँ।

नोट—*'परम मनोहर'*। पतिकी रक्षाके वचन हैं और इसमें रामयश भी है। अतः 'परम मनोहर' विशेषण दिया।

चरन नाइ सिरु अंचल रोपा। सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा॥ ४॥

शब्दार्थ—**अंचल**=साड़ी वा दुपट्टेका वह भाग जो सिरपरसे होता हुआ सामने छातीपर फैला हो। छोर, अँचरा। रोपना=फैलाना, पसारना। अंचल रोपना—गुरुजनों या देवताओंसे माँगनेके समय स्त्रियाँ अंचलको दोनों हाथोंसे आगे फैलाती हैं जिससे वे अपनी दीनता और उद्वेग जनाती हैं। यह दीनता और विनयकी मुद्रा है।

अर्थ—चरणोंमें माथा नवाकर मंदोदरीने आँचल पसारा। (और बोली) हे प्राणप्रिय! क्रोध छोड़कर मेरा वचन सुनिये॥ ४॥

यहाँ दिखाते हैं कि विनती किस प्रकार करनी चाहिये। मन्दोदरीने किस रीतिसे विनती की। अवधपुरकी स्त्रियाँ देवताओंको मनाती हैं कि राम राजा हों, जानकीजी रानी हों, इत्यादि, तब वे इसी तरह विनय कर रही हैं, यथा—*'रमारमनपद-बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥ राजा राम जानकी रानी।'.......अछत रामराजा अवध मरिय माँग सब कोउ॥'* (अ० २७३), वैसे ही यहाँ मन्दोदरी अंचल पसार, चरणोंमें सिर नवा, विनय करके रावणसे माँगती है कि *'मम अहिवात न जाइ॥'*

पं०—पतिव्रताको इसी तरह विनय करना उचित है।

रा० प्र०—चरणोंमें सिर धर आँचल पसारनेका भाव यह है कि मेरे माँग और कोखकी कुशल आपहीकी सुमतिके अधीन है।

'परिहरि कोपा'

क्रोध छोड़कर वचन सुननेको कहा; क्योंकि क्रोधमें मनुष्य समझता नहीं, न उपदेश वा विनयका कुछ प्रभाव ही पड़ता है। यथा—*'सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि कर चरन नारि समुझावा॥'* ताराने बालीको समझाया, पर वह न समझा, उसे उपदेश न लगा क्योंकि वह क्रोधावेशमें था। पुनः यथा—*'नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥'* (शुकवचन; ५। ५४), *'सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा॥'* (५। ५७। ४)

मुं० राजबहादुर लमगोड़ा—'पिया' का प्यारा शब्द, वह शब्द जिसको हिंदू स्त्रियाँ अपने प्रेमभरे सच्चे भावोंके प्रकट करनेको संसारके कानोंसे दूर प्रयोग करती हैं, इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि पत्नीत्वके स्वत्वपर मन्दोदरीको पूरा विश्वास है और पतिके भावोंके उभारनेकी पूर्ण चेष्टा की जा रही है।

बं० पा०—'पिय' अर्थात् हमारे पोषणकर्ता हो, हमपर कोप न करके बात सुनो। पाणिग्रहणके समय स्त्रीके तीन अपराध क्षमा करनेकी प्रतिज्ञा पति करता है। इस प्रकार भी क्रोध छोड़कर सुननेको कह सकती है पुनः, पिय=प्राण-पति, प्रिय। प्रियको क्रोध न करना चाहिये।

पं०—कोप त्याग करनेको कहा। यह कोप किसपर है? भाव यह है कि यदि सभामें किसीपर कुपित हुए हो तो उस कोपको छोड़ दो एवं मुझपर भी कोप न करना।

प० प० प्र०—यह मन्दोदरीका रावणको दूसरी बार समझाना है। (प्रथम बार सुन्दरकाण्डमें समझाया था। सुं० ३६ (५) से ३६ तक) प्रथम उपदेशमें *'कंत करष हरिसन परिहरहू'* ऐसा कहा था और यहाँ *'सुनहु परिहरि क्रोधा'* ऐसा कहा। दोनोंमें भाषणका आरम्भ शृङ्गाररसमें ही किया है। (५। ३६। ६ देखिये) *'परिहरि क्रोधा'* में यह भी भाव है कि श्रीरामचन्द्रजीपर क्रोध करना छोड़ दीजिये। इस भावकी पुष्टि *'खलु खद्योत दिनकरहि जैसा'* और *'नाथ बैरु कीजे ताही सों'''''* से होती है।

नोट—जब कोई रावणसे रिपुका उत्कर्ष कहता है या श्रीजानकीको लौटानेकी बात करता है तब उसे क्रोध होता है। यथा—*'जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥'* (सुं० ५७), *'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हैं कोऊ॥'''''सुनत दसानन उठा रिसाई॥'* (५। ४०। ३, ४१) इत्यादि। और मन्दोदरी भी दोनों तरहकी बात कहनेको है; इसीसे प्रथम ही कोप छोड़कर सुननेकी प्रार्थना करती है। वह तीन उदाहरण (माल्यवान्, विभीषण और शुकके) देख चुकी है।

पा०—रावणको भय हुआ है पर वीरमें भय कहना योग्य नहीं है, इससे भय न कहकर कोप कहती है।

नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिअ जाति जाही सों॥५॥
तुम्हहिं रघुपतिहि अंतरु कैसा। खलु खँद्योत दिनकरहि जैसा॥६॥

शब्दार्थ—अंतर=बीच, फर्क। खलु=निश्चय, अवश्य, यथा—*'तव प्रभाउ बड़वानलहि जारि सकै खलु तूल।'* खद्योत=जुगनू।

अर्थ—हे नाथ! वैर उसीसे करना चाहिये जिससे बुद्धि और बलसे जीत हो सकती हो॥ ५॥ आपमें और रघुनाथजीमें निश्चय ही कैसा अन्तर है जैसा निश्चय ही जुगनू और सूर्यमें है॥ ६॥

मिलानके श्लोक १ —**'शक्यो न राघवो जेतुं त्वया चान्यैः कदाचन। रामो देववरः साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः॥'** (अ० रा० १०। ४५) अर्थात् (मेघनादवधके बाद मन्दोदरीने रावणको समझाया है कि) तुम या कोई भी राघवको जीत नहीं सकते, वे देवश्रेष्ठ साक्षात् प्रधानपुरुष ईश्वर हैं।

२—**'हीयमानेन कर्तव्यो राज्ञा संधिः समेन च। न शत्रुमवमन्येत ज्यायान्कुर्वीत विग्रहम्॥'** (वाल्मी० ३५। ९) माल्यवान्ने कहा कि जब राजाकी शक्ति हीन हो या उसका शत्रु उसके समान बलवान् हो तो उसे सन्धि कर लेनी चाहिये और यदि बली हो तो विग्रह करे।

३—**'बलिना सह संधिः स्यादबलेन च विग्रहः। तेनैव सह वैरत्वं बुद्ध्या जेतव्य एव यः॥'** (शुक्रनीति) अर्थात् बलवान्के साथ मिलाप और प्रबलके साथ विरोध होता है, उसीसे वैर करे जो बुद्धिसे जीता जाने योग्य हो।

नोट—१ *'नाथ बयरु कीजे'''''* इति। (क) 'नाथ' का भाव कि ऐसा न करनेसे मैं अनाथा हो जाऊँगी। पुनः, भाव कि आप इनको बुद्धि और बलद्वारा जीत नहीं सकते, अवश्य आपकी मृत्यु होगी, यदि आप इनसे वैर करेंगे। वैर करनेसे वह जीते-जी अनाथ हुई भी, यथा—*'धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं॥'* (८४) पुनः भाव कि वैर करनेसे आपकी दशा भी अनाथकी-सी हो जायगी। यथा—*'भुजबल जितेहु काल जम साईं। आजु परेहु अनाथ की नाईं॥'* (१०३। ८) यहाँ उदाहरण अलंकार है।

(ख) बुद्धि और बल दो कहे; क्योंकि शत्रुपर जयके लिये ये ही दो मुख्य हैं, यथा—*'जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥ सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि'''''* (सुं० २। १),

'मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मर्म तोर मैं पावा॥ रामकाजु सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।' (सुं० २), *'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहा जानकी जाहु॥·····'* (सुं० १७) भाव यह कि जब शत्रुके बल और बुद्धिसे अपनेमें अधिक बल और बुद्धि हो तभी शत्रुके सम्मुख जाना, उससे वैर करना चाहिये; नहीं तो कुछ देकर संधि कर ले। देखिये, जब बुद्धिबलसे हनुमान्‌जी रावणसे पार न पा सके तब उन्होंने प्रभुका स्मरण किया, यथा—*'बुधि बल निसिचर परइ न पार्‌यो। तब मारुतसुत प्रभु संभार्‌यो॥'* (९४। ८) (ग) मिलान कीजिये—*'प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि॥'* (२३; अङ्गदवाक्य रावणप्रति)

बं० पा०—*'तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा।·····'* भाव यह कि जिनको तुमने परास्त किया, जिनपर विजय पायी, वे सब जीव हैं और ये राम 'रघुपति' हैं अर्थात् जीवमात्र (रघु=जीव, यथा—**'रघुजीवात्मबुद्धिश्च भोक्ता भुक् चेतनस्तथा।'** (विश्वकोश) के रक्षक ईश्वर हैं। इसलिये तुमसे उनसे बड़ा अन्तर हुआ। यह कहकर इसपर दृष्टान्त देती है, खद्योत और दिनकरका। जीव खद्योतसम किञ्चित् प्रकाशवाला है, यथा—**'किंचित् प्रकाश—'ममैवांशो जीवलोके'** और राम सूर्यवत् हैं, यथा—*'राम सच्चिदानंद दिनेसा। सहज प्रकाशरूप भगवाना॥ पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ।'* (१। ११६। ५—११६) जीव ईश्वरांश है। श्रीरामजी जीवके भी प्रकाशक हैं। यथा—*'विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥ सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥'* (१। ११७। ५-६) अंश अंशीकी, प्रकाश्य प्रकाशककी बराबरी कैसे कर सकता है। अत: जीव और ईश्वरका विरोध किसी प्रकार नहीं बनता। इसपर यदि रावण कहे कि उन्हें ईश्वर कैसे मान लें तो उसपर पुराणोंका प्रमाण देती है।

नोट—२ *'खद्योत दिनकरहि जैसा'*। भाव कि जैसे जुगुनू असंख्य भी क्यों न हों पर उनसे रातका अन्धकार दूर नहीं हो सकता और सूर्य अकेला ही है पर उसके उदयसे अन्धकार कहीं नहीं देख पड़ता; तब जुगुनू सूर्यके समान कैसे कहा जा सकता है। यथा—*'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै। जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥'* (७। ९२) वैसे ही तुम्हारे समान यदि असंख्य रावण भी एकत्र होकर श्रीरामजीकी बराबरी करनेका विचार करें तो उपहास योग्य ही होंगे। पुनः, भाव कि खद्योतका प्रकाश तभीतक है जबतक सूर्योदय नहीं होता, इसी तरह तुम अबतक जगमगाते रहे जबतक रघुनाथजी यहाँ तुम्हारा प्रकाश हरने नहीं आये थे, पर अब वह जगमगाहट दूर होती जा रही है। आशय यह है कि जबतक उनके बाण नहीं चलते तबतक उपाय कर लो। रामबाणका चलना रविका उदय है, यथा—*'रामबान रबि उए जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥'* (सुं० १६) जब अँधेरा ही न रहेगा तब तुम्हारी जगमगाहट कहाँ देख पड़ेगी?

नोट—३ *'खलु खद्योत दिनकरहि जैसा'* इति। यही आशय श्रीसीताजीके *'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥ अस मन समुझु कहति जानकी।'* (५। ९। ७-८) इन वचनोंका है अर्थात् तू खद्योत-समान है और रघुनाथजी सूर्य हैं। इस बातको समझकर रावण श्रीसीताजीको मारने दौड़ा था, यथा—*'आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान। परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसियान॥'* (सुं० ९) मन्दोदरीने उससे भी अधिक कह डाला। इनके वचनमें 'खलु' शब्द बड़ा मार्मिक है। मन्दोदरी कहती है कि सीताजीने जो तुमको 'खद्योत' और रामजीको 'भानु' कहा था, वह यथार्थ है, इसमें किञ्चित् झूठ नहीं है। तुम निश्चय ही खद्योतसम हो, यद्यपि तुम सीताके वचनपर कुपित हुए थे। इस प्रकार सीताजीके वाक्यका यहाँ इसने समर्थन किया। पर रावणने क्रोध न किया; क्योंकि वह प्रथम ही प्रार्थना कर चुकी है (प्र० सं०)। अथवा, क्रोध न करनेका कारण एकमात्र यह है कि मन्दोदरी पतिव्रता, पटरानी तथा प्रिय पत्नी है। पुरुष अपनी प्रिय पत्नीके अपमानकारक वचन सह सकता है, पर दूसरोंके नहीं। यह कामी पुरुषोंका स्वभाव ही है। नहीं तो विभीषण और शुकने भी तो प्रथम ही क्रोध न करनेकी प्रार्थना की थी तब उनपर क्रोध क्यों किया? (प० प० प्र०)।

अति बल मधु कैटभ जेहि मारे। महाबीर दितिसुत संघारे॥ ७॥
जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महि भारा॥ ८॥

शब्दार्थ—मधु-कैटभ—ये दोनों दैत्य थे। मधु बड़ा भाई है और कैटभ छोटा। **दितिसुत**—हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु।

अर्थ—जिन्होंने अत्यन्त बलवान् मधु और कैटभ दैत्योंको मारा और बड़े भारी वीर दितिपुत्रों हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुका नाश किया॥ ७॥ जिन्होंने दैत्यराज बलिको बाँधा और सहसबाहुको मारा, वे ही पृथ्वीका भार हरनेके लिये अवतरे हैं॥ ८॥

नोट—१ सृष्टिके आदिसे क्रमानुसार जो महाबली वीर हुए उन्हें मन्दोदरी गिनाती है। ये वीर ऐसे हुए कि इनके समयमें इनके समान दूसरा वीर न था। इनके मारनेके लिये स्वयं भगवान्‌को ही आना पड़ा।

नोट—२ ☞ *'महाबीर दितिसुत संघारे ''''''महि भारा।'* इति। इन तीन चरणोंकी जोड़में ये श्लोक हैं—**'हिरण्याक्षोऽतिदुर्वृत्तो हतोऽनेन महात्मना। क्रोडरूपेण वपुषा क्षोणीमुद्धरता क्वचित्॥ त्रिलोककण्टकं दैत्यं हिरण्यकशिपुं पुरा। हतवान्नारसिंहेन वपुषा रघुनन्दनः॥ विक्रमैस्त्रिभिरेवासौ बलिं बद्ध्वा जगत्त्रयम्। आक्रम्यादात्सुरेन्द्राय भृत्याय रघुसत्तमः॥ राक्षसाः क्षत्रियाकारा जाता भूमेर्भरावहाः। तान्हत्वा बहुशो रामो भुवं जित्वा ह्यदान्मुनेः॥ स एव साम्प्रतं जातो रघुवंशे परात्परः।'**—(अ० रा० १०। ४८—५२; मन्दोदरीवाक्य) अर्थात् किसी समय वराहरूप धारणकर पृथ्वीका उद्धार करते समय इन्हीं महात्माने महादुराचारी हिरण्याक्ष दैत्यको मारा था। इन रघुनन्दनने ही नृसिंह शरीरसे त्रिलोकीके कण्टकरूप हिरण्यकशिपु दैत्यको मारा था। इन्हीं रघुश्रेष्ठने (वामन अवतार लेकर) बलिको बाँधकर सम्पूर्ण त्रिलोकीको तीन ही पगोंमें नापकर अपने सेवक इन्द्रको दे दिया था। जिस समय राक्षसगण क्षत्रियरूपसे उत्पन्न होकर पृथ्वीके भाररूप हुए तब इन्होंने परशुरामरूपसे उन्हें कई बार संग्राममें मारा और पृथिवीको जीतकर उसे कश्यप मुनिको दे दिया। इस समय वे ही परात्पर प्रभु रघुवंशमें रामरूपसे अवतीर्ण हुए हैं। पाठक देखेंगे कि ये श्लोक मानसके उपर्युक्त तीन चरणोंकी व्याख्या ही हैं। अ० रा० में मधुकैटभको नहीं कहा है। और यह उपदेश मेघनादवधके पीछे हुआ है।

'मधु-कैटभ'—महाभारतके वनपर्व अध्याय २०३ में मार्कण्डेय ऋषिने युधिष्ठिरजीसे मधुकैटभका वृत्तान्त कहा है। ये दोनों दैत्य प्रलयके बाद श्रीमन्नारायणके नाभिकमलपर विराजमान ब्रह्माको देख उन्हें बारम्बार डरवाने लगे, तब भयभीत होकर ब्रह्माजीने कमलको हिलाया जिससे भगवान् योगनिद्रासे जाग पड़े और दोनों दैत्योंसे स्वागत-प्रश्न करके उनसे बोले कि मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे वर माँगो। तब वे बोले कि हम स्वयं वर दे सकते हैं, तुम जो चाहो हमसे वर माँग लो। भगवान्‌ने लोकहितार्थ उनसे वर माँगा कि तुम्हारी मृत्यु हमारे हाथ हो। एवमस्तु कहकर उन्होंने भगवान्‌से वर माँगा कि आप हमें खुले मैदानमें मारें और हम आपके पुत्र हों। भगवान्‌ने उन्हें अपनी जाँघोंपर रखकर चक्रसे उनका सिर काटा।—(हिन्दी महाभारत इंडियनप्रेससे)

शिवसंहिता भव्योत्तर खण्डान्तर्गत श्रीरामार्चामें लिखा है कि श्रीमन्नारायणने प्रतिज्ञा की कि हम इनको मार लें तो रामार्चा करेंगे। इनका वध करके भगवान्‌ने रामार्चा की।

प० पु० सृष्टिखण्डमें कथा इस प्रकार है—

श्रीमन्नारायणजीके नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ जिसके सारभागका नाम पृथ्वी है और सारभागके भारी अंशको दिव्य पर्वत माना गया है। कमलके भीतर एक और कमल है जिसके भीतर एकार्णवके जलमें पृथिवीकी स्थिति मानी गयी है। इस कमलके चारों ओर चार समुद्र हैं। ब्रह्माजी उस एकार्णवके जलमें धीरे-धीरे पद्मरूप निधिकी रचना करने लगे। इसी समय तमोगुणसे उत्पन्न मधु नामका महान् असुर तथा रजोगुणसे उत्पन्न कैटभ नामधारी असुर ब्रह्माजीके कार्यमें विघ्नरूप होकर उपस्थित हुए। उन दोनोंके सब ओर मुख थे। उन्होंने ब्रह्माजीसे पूछा—'तुम कौन हो? जिसने तुम्हें सृष्टिकार्यमें नियुक्त किया है वह तुम्हारा कौन है? कौन तुम्हारा स्रष्टा है और कौन रक्षक है? और वह किस नामसे पुकारा जाता है?' प्रश्नोंका उत्तर पानेपर वे श्रीमन्नारायणके

समीप गये और कहा कि 'देव! हम आपसे हितकारी वरदान चाहते हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं।' भगवान्ने कहा कि तुम लोगोंकी आयु समाप्त हो चुकी, फिर भी तुम जीवित रहना चाहते हो, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।' मधुकैटभने कहा—'प्रभो! जिस स्थानमें किसीकी मृत्यु न हुई हो, वहीं हमारा वध हो—हमें इसी वरदानकी इच्छा है।' एवमस्तु कहकर भगवान्ने उनको अपनी जङ्घापर गिराकर मारा।

'दिति सुत'—इनकी कथा बा० २७, १। १२२ (३—६) में दी गयी है। ये पूर्व श्रीमन्नारायणके (जय-विजय नामक) द्वारपाल थे। श्रीसनकादिक ऋषियोंके शापसे इन्हें तीन बार जन्म लेना पड़ा। श्रीमद्भागवतमें इनकी कथा विस्तारसे है। ये त्रैलोक्यविजयी हुए।

'राजा बलि'—ये प्रह्लादके वंशज हैं। ये भक्त भी थे, यद्यपि दैत्यराज थे। भगवान्की इनसे किसी तरह न चली तब अन्तमें वामन अवतार धारणकर भिक्षाद्वारा उन्होंने इन्द्रको पुनः इन्द्रलोक दिया।—इनकी संक्षिप्त कथा अ० ३० (७) और आ० ४ छंद ६ 'सचीपति प्रियानुज' में दी जा चुकी है।

'सहसबाहु'—इनको परशुरामजीने मारा जो चौबीस अवतारोंमेंसे एक हैं। इनकी कथा १। ४। ३, २७२ (८), २। २२९। १ में दी गयी है।

नोट—३—'अति बल' और 'महावीर' पद देकर जनाया कि तुम बली और वीर ही हो और वे 'अति बली' और 'महावीर' थे। हिरण्यकशिपु ऐसा था कि उसके कवच और कुण्डल भी तुम्हारे उठाये न उठ सके, तब भला उनके मारनेवालेको तुम क्या जीत सकोगे?

'सहसबाहु' का उदाहरण देकर जनाया कि उसके तो हजार भुजाएँ थीं और वह एक साथ ५०० धनुषपर बाण चला सकता था, सो उनको भगवान्ने काट गिराया। तब उसका वध किया, जिसमें उसके मनमें यह न रहे कि हम पराक्रम न दिखा सके। और तुम्हारे तो बीस ही भुजाएँ हैं तब तुम किस बिरतेपर अभिमान करते हो। दूसरे, सहसबाहुसे तुम हार चुके तब उसके मारनेवालेसे कब जीत सकते हो?

नोट—४—प्रथम मधुकैटभको कहा—क्योंकि इनको भगवान्ने चतुर्भुजरूपसे मारा था। फिर हिरण्याक्षादिको कहा जिनके लिये भिन्न-भिन्न अवतार प्रभुको धारण करने पड़े, क्योंकि वे वरदानद्वारा चतुर्भुजरूपसे अमर थे।

नोट—५—*'सोइ अवतरेउ हरन महिभारा'* अर्थात् जिन्होंने श्रीमन्नारायणरूपसे मधुकैटभको मारा, वराहरूपसे हिरण्याक्षको, नृसिंहरूपसे कनककशिपुको मारा, वामनरूपसे बलिको छला और परशुरामरूपसे सहस्रार्जुनको जीता, वे ही अब पृथ्वीको निशिचरहीन करनेके लिये पुनः अवतरित हुए हैं।

नोट—६—राक्षस महिभार हैं—यथा—*'गिरि सरि सिंधु भार नहि मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥ सकल धरम देखै बिपरीता। कहि न सकै रावन भयभीता॥'* (१। १८४) इस भारके हरनेकी प्रतिज्ञा आकाशवाणीमें हुई थी—*'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥'* (१। १०७। ७) फिर दण्डकारण्यमें भी हुई, यथा—*'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'* (३। ९)

मन्दोदरी हनुमान्जी और विभीषणजीसे भी अवतार सुन चुकी है, यथा—*'धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनदाता॥'* (५। २०। ७०) *'तात राम नहिं नर भूपाला। ......गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनुधारी॥ जन रंजन भंजन खल ब्राता।'''सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥'* (५। ३९) अतएव वही बात वह स्वयं भी कह रही है।

नोट—७—मन्दोदरीने सीधे-सीधे न कहा कि ये भगवान् हैं। इतने उदाहरण देकर घुमाकर भगवान्का ही स्वयं अवतरित होना कहनेका कारण है। रावणको अपने बलका बड़ा अभिमान है, यथा—*'बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा॥'* (२८। ४), *'उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना॥'*(३९। ६), *'बिहँसा जगत बिदित अभिमानी'* इत्यादि। उदाहरणोंसे इसका अभिमान चूर्ण हो, तब ज्ञान होगा। अभिमान रहते उपदेश व्यर्थ होता है, यथा—*'बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥'*(सुं० २२) सीधे-सीधे कहनेसे हँसकर उड़ा देता। यहाँ 'प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार' है।

गीतावली (६। १) मेंका मन्दोदरीकृत उपदेश मिलान करने योग्य है—

'मानु अजहूँ सिख परिहरि क्रोधु। पिय पूरो आयो अब काहि कहु करि रघुबीर-बिरोधु॥ १॥
जेहि ताड़का सुबाहु मारि मख राखि खनायो आपु। कौतुक ही मारीच नीच मिस प्रगट्यो बिसिष प्रतापु॥ २॥
सकल भूप बल गर्व सहित तोर्यो कठोर सिव चापु। ब्याही जेहि जानकी जीति जग हर्यो परसुधर दापु॥ ३॥
कपट काक सासति प्रसाद करि बिनु स्त्रम बध्यो बिराधु। खरदूषन त्रिसिरा कबंध हति किये सुखी सुर साधु॥ ४॥
एकहि बान बालि मार्यो जेहि जो बल उदधि अगाधु। कहु थौं कंत कुसल बीती केहि किए राम अपराधु॥ ५॥
लाँघि न सके लोकबिजई तुम जासु अनुज कृत रेखु। उतरि सिंधु जार्यो प्रचारि पुर जाको दूत बिसेषु॥ ६॥
कृपासिंधु खलबन कृसानु सम जस गावत श्रुति सेषु। सोइ बिरदैत बीर कोसलपति नाथ समुझि जिय देषु॥ ७॥
मुनि पुलस्ति के जसमयंक महुँ कत कलंक हठि होहि। और प्रकार उबार नहीं कहूँ मैं देख्यों जग टोहि॥ ८॥
चलु मिलु बेगि कुसल सादर सिय सहित अग्र करि मोहि। तुलसिदास प्रभु सरन सब्द सुनि अभय करहिंगे तोहि॥ ९॥

गौड़जी—*'सहजभुज मारा'* कहकर *'सोइ अवतरेउ'* कहनेसे यह ध्वनित होता है कि रावणको वाराह, नृसिंह, वामन और परशुरामके मधुकैटभारि विष्णु या नारायणके अवतार होनेका पूरा पता है, जिनमें परशुरामजी मौजूद हैं। धनुर्भङ्गके अनन्तर यह परशुरामका पराभव जरूर सुन चुका होगा। स्वयं बलि और सहस्रबाहुसे हार चुका है। मन्दोदरीका इशारा है कि जब तुम इन हारे हुओंसे हार चुके हो तो यह अवतार हैं इनसे कब जीत सकोगे।

तासु बिरोध न कीजिअ नाथा। काल करम जिव जाके हाथा॥ ९॥

अर्थ—हे नाथ! उनका विरोध न कीजिये जिनके हाथमें काल, कर्म और जीव हैं अर्थात् जो काल, कर्म और जीवके नाथ हैं—तुम जीव हो तुम्हारे भी नाथ हैं*॥ ९॥

टिप्पणी—१ काल सारे ब्रह्माण्डको नाश करता है। यथा—*'अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥'* (७। ९४। ८), *'जो सुर असुर चराचर खाई।'* (५। २२), **'कालो जयति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।'** अर्थात् काल संहारकर्ता है। कर्म जन्मका हेतु है, यथा—*'जेहि जोनि जनमौं कर्म बस'*—(कि० १० छं०) एवं **'कर्मणा जायते जन्तुः'** (कर्मविपाक) चराचर जीव सब हाथमें है, यथा) *'काल, करम, गति अगति जीवकी सब हरि हाथ तुम्हारे'* । (विनय०)

नोट—१ करुणासिंधुजी इसका अर्थ करते हैं कि 'जीवका काल और कर्म जिसके हाथ है' और लिखते हैं कि जिस कालमें जीवको जैसी प्रेरणा कर्मानुसार प्रभु करते हैं वैसा कर्म जीव करता है और कर्मानुसार फल भोग करता है।

नोट—२ हनुमान्‌जीके—*'जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥ तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै।'* (५। २२) इस उपदेशसे मिलान कीजिये।

नोट—३ काल, कर्म और जीव तीनों श्रीरामजीके अधीन हैं, यथा—*'माया जीव कालके करमके सुभावके करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिये।'* (हनुमानबाहुक)

नोट—४ काल प्रभुके अधीन है, उनका रुख देखकर संहार करता है, यथा—*'काल बिलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि।'* (दोहा० ५०४) कर्मके फलदाता भी प्रभु ही हैं, यथा—*'काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥'* (७। ४१), *'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'* जीव भी उन्हींके अधीन है, जब वे इसपर करुणा करें तभी इसकी सद्‌गति हो सकती है, यथा—*'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाउ गुन घेरा। कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'* (७। ४४), *'परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥'* (७। ७८), *'काल करम गति अगति जीव कै सब हरि हाथ तुम्हारे।'* (वि० ११२)

---

* 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है—(वीर)।

नोट—५ ध्वनि यह है कि वैर करोगे तो तुम अवश्य कालके हवाले कर दिये जाओगे और यदि वैर छोड़कर मिलोगे तो यदि तुम्हारा काल भी आ गया होगा तो भी वे तुम्हें छोड़ देंगे, तुम्हें अमर कर देंगे इत्यादि। पुनः, कर्म उनके अधीन है अतएव जिस कर्मवश तुम राक्षस हुए उसे भी वे पलट देंगे और तुमको सद्‌गति देंगे। 'वैर न करो' का भाव कि जानकी दे दो, यथा—*'तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै॥'* (हनुमद्वाक्य)

बं० पा०—भाव कि जब काल, कर्म, जीव सब उनके हाथ हैं तब तुम भी तो जीव ही हो; इसलिये तुम भी उन्हींके हाथ हो, तब क्या कर सकते हो?

दो०—रामहि सौंपि* जानकी नाइ कमलपद माथ।
सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ॥ ६॥

शब्दार्थ—**सौंपि**=समर्पण करके। समर्पण करना=आदर वा प्रतिष्ठापूर्वक देना, देना।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें माथा नवाकर उनको श्रीजानकीजी सौंपकर अपने पुत्रको राज्य देकर स्वयं वनमें जाकर श्रीरघुनाथजीका भजन कीजिये॥ ६॥

नोट १—(क) पूर्व कहा कि *'तासु बिरोध न कीजिअ'*; अब बताती हैं कि विरोध कैसे मिटे? श्रीजानकीजीको दे देनेसे। (ख) *'सौंपि'* का भाव कि श्रीजानकीजी उन्हींकी हैं, तुम्हारी नहीं हैं। यदि कहो कि हम तो हरण कर ले आये तब यह कैसे कहें, तो तुम यह कह सकोगे कि हमने अपने कुलमात्रके कल्याणार्थ ऐसा किया था, अब आपके यहाँ आनेसे हम सबका कल्याण निश्चय है, अतः अब सौंपे देते हैं। 'जानकी' का भाव कि जैसे जनक-महाराजने समर्पण किया था वैसे ही तुम समर्पण करो, यथा—*'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥'* (१। ३२४ छंद) विशेष वहीं छंदमें देखिये।

नोट—२ *'नाइ पद कमल माथ'*। क्योंकि एक तो वे प्रभु हैं, परब्रह्म परमात्मा हैं, दूसरे तुमने उनकी प्रियाका हरणरूपी अपराध किया है, उसके क्षमार्थ भी ऐसा करना योग्य है। तीसरे, ऐसा करनेसे वे तुमको अपना लेंगे, और अपराध भूलकर कृपा करेंगे, यथा—*'सकृत प्रनाम किए अपनाए।'* (२। २९९। ३), *'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।'* (वि० १३५)

नोट—३—*'सुत कहुँ राज समर्पि बन······'* इति। (क) वनमें जाकर रघुनाथजीका भजन करनेको कहती है। भाव यह कि तुम्हारा चौथापन है, चौथेपनमें शास्त्रानुशासन है कि राजा वनमें जाकर भगवद्भजन करे। यही बात वह आगे कहती है, यथा—*'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन॥ तासु भजन कीजिअ तहँ भर्ता।'* दूसरे, घरमें विषयोंसे वैराग्य नहीं होता, यथा—*'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गएउ हरिभजन बिनु॥'* (१। १४२) (ख) विषयसे वैराग्य होनेके दो उपाय बताये। एक तो पुत्रको राज्य देना, जिससे राज्यमें ममत्व न रह जायगा, दूसरे वनगमन, जिससे परिवारभरकी ममता जाती रहेगी। पुनः, (ग) राज्य पुत्रको देना आवश्यक है; क्योंकि बिना इसके एक तो तुम्हारा मोह बना रहेगा, दूसरे अराजकतासे प्रजा दुःखी होगी। प्रजाको क्लेश होनेसे राजा नरकका अधिकारी होता है, यथा—*'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'* —(अ०) (घ) *'सुत कहुँ राज समर्पि।'* समर्पिका भाव कि प्रतिष्ठापूर्वक दो क्योंकि राज्य धरोहर (अमानत) है, वह किसी एककी वस्तु नहीं है—*'संपति सब रघुपति कै आही।'* राजा केवल कर्मचारी, अमानतदार वा मुतवल्ली है। उसके बाद नीतिके अनुसार उसका पुत्र अधिकारी होता है। अतः यह पुत्रका है, ऐसा समझकर उसको दो।

मनुजीने भी बरबस राज्य पुत्रको दिया था, यथा—*'बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥'*

* सौंपहु—(का०)। सोपिअ—(ना० प्र०)

नोट—४ *'रघुनाथ'* पदसे जनाया कि सगुणरूपसे रघुकुलमें अवतरित हुए हैं, ये ही जीवमात्रके नाथ राम हैं, इनको भजो। पुनः, **'भज सेवायाम्'**के अनुसार *'रघुनाथ'* पद दिया।

प० प० प्र०—*'भजिअ रघुनाथ'* का भाव कि वे जीवोंके नाथ हैं। जीव जबतक उनको नहीं भजता तबतक वह अनाथ ही है। **'भज'** का अर्थ 'आश्रय करना' भी है। **भजिय**=अर्थात् उनकी शरण लीजिये। इस भावकी पुष्टि आगेके *'बाघउ सनमुख गये न खाई।'* से होती है। सन्मुख होना=शरण होना।

नोट—५ ☞ अ० रा० में इस दोहेकी जोड़का वचन यह है—**'इतः परं वा वैदेहीं प्रेषयस्व रघूत्तमे। विभीषणाय राज्यं तु दत्त्वा गच्छामहे वनम्॥'** (१०। ५४) अर्थात् आप अब भी श्रीजानकीजीको रघुनाथजीके पास भेज दीजिये, फिर विभीषणको राज्य देकर हम वनको चलेंगे।

अ० रा० में मानसके *'सुत कहुँ'* के बदले **'विभीषणाय'** है; कारण कि वहाँ मन्दोदरीका उपदेश मेघनादवधके पीछे हुआ है, जब वानरोंने रावणके सामने ही उसके केश पकड़कर उसे महलसे निकाला था।

नाथ दीन दयालु रघुराई। बाघौ सनमुख गए न खाई॥ १॥

अर्थ—हे नाथ! श्रीरघुनाथजी तो दीनदयाल हैं। सन्मुख जानेपर तो व्याघ्र भी नहीं खाता है। (भाव कि जब पशुमें यह रीति है तब रघुराईकी तो बात ही क्या? वे तो रघुवंशके राजा हैं, पुरुषसिंह हैं, स्वाभाविक ही दीनोंपर दया करना उनका विरद है; उनके सन्मुख जानेमें तो स्वप्नमें भी सन्देह न करना चाहिये।)॥ १॥

नोट—१ ऊपर दोहेमें श्रीरामजीको श्रीजानकीजी देनेको कहा। इसपर यदि रावण कहे कि मैं तो विरोध कर ही चुका, और वे मेरे नाशकी प्रतिज्ञा भी कर चुके तथा विभीषणका तिलक कर चुके तब उनसे मिलनेपर वे मेरे अपराधको कब क्षमा करने लगे, अवश्य मेरा वध करेंगे। इस संदेहके निवारणार्थ *'रघुराई'* और *'दीनदयालु'* कहा और *'बाघ'* का दृष्टान्त दिया कि वीर पशुओंतकका यह नियम है और वे तो रघुराई हैं तब वे अपना विरद कब छोड़ने लगे। ऐसा कहकर रावणको शरण होनेका उपदेश देती है। यथा—*'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥ तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥ सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥'* (अ० १८३)

नोट—२ बाघके विषयमें यह प्रख्यात है कि उसके सम्मुख देखते रहनेसे वह हमला नहीं करता, वरन् राह छोड़कर बचा जाता है। कहते हैं कि दृष्टि इधर-उधर होनेपर ही वह मारता है।

☞ 'बाघ' का अर्थ प्रायः सबने सिंह किया है। पर मानसकार बाघ और सिंहको पर्याय शब्द नहीं मानते। यदि ये दोनों अभेद होते तो कवि दोनोंको एक साथ कभी न लिखते। यथा—*'करि केहरि अहि बाघ बराई'*—(अ०), *'तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला।'* (१। ३८। ७), *'भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा॥'* (अ० ६२। ८), *'खगहा करि हरि बाघ बराहा।'''' बयरु बिहाइ चरहि एक संगा।'* (अ० २३६)

रामायणी श्रीरामबालकदासजी कहते हैं कि 'विन्ध्याचलके जंगलोंमें नौ हाथके बाघ होते हैं जिनको *'केहरि'* कहते हैं। छोटी जातिवालेको बाघ, तेंदू वा चीता भी कहते हैं।

नं० प०—यहाँ बाघकी उपमा देकर शरणागतिकी महिमा दिखायी है कि बाघके सामने यदि दीन हो जाइये अर्थात् जमीनपर लम्बा पड़ जाइये तो बाघ भी मुर्दा जानकर छोड़ देता गै, नहीं मारता, क्योंकि बाघ मुर्दा नहीं खाता, जिन्दा मारकर खाता है। स्कूलके लड़के भी पढ़ाये जाते हैं कि भालू और बाघके सामने जमीनमें लम्बा पड़ जानेसे वह नहीं मारता।

बाघसे नेत्र मिलाये रहिये तो नहीं मारता, ऐसा ठीक नहीं है। क्योंकि कबतक आँख मिलाये रहेगा, ज्यों ही नेत्र झँपे कि उसने खाया। दूसरे इस अर्थसे प्रसंगविरोध होगा, क्योंकि नेत्रका मिलाना तो बराबरीका भाव सूचित करता है। और मन्दोदरी तो दीन होनेको कह रही है जिसमें प्राण अवश्य बच जायँ। बाघके सामने लम्बा पड़ जानेसे प्राण बच जायँगे। वह केवल सूँघकर चला जायगा।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—'नेपालराज्य मिथिला देशके पँड़ौल ग्राममें एक बार जमीनका सरकारी

बंदोबस्त हो रहा था। लोगोंने दिनमें ही एक भारी बाँसकी आड़में छिपे हुए दो बड़े-बड़े बाघोंको देखा। शीघ्र ही उन्होंने बंदूकवाले राज्यकर्मचारियोंसे आकर कहा। उन्होंने आधे फलांगकी दूरीसे उनपर गोलियाँ चलायीं, पर बाँसोंके कारण निशाना चूक गया। निदान दोनों बाघ उधरको ही वेगसे टूट पड़े। वहाँ कुल ४-५ कर्मचारी और करीब २५ मजदूर वगैरह थे। उनमें कुछ भागकर बच गये। दो-तीन मरे और छः-सात घायल हुए, परंतु एक कुली मारे डरके घबड़ाकर चार अंगुल गहरी नालीमें लम्बा गिर पड़ा। बाघोंने औरोंको झपट-झपटकर मार डाला। पीछे एक आकर इसकी पीठपर अपने अगले पाँव (हलकेसे) रखकर खड़ा हो, हाँफने लगा। फिर दोनों जंगलकी ओर (जो वहाँसे ५ मील दूर था) भाग गये। उस पड़े हुए मजदूरको एक नख भी नहीं गड़ा और न उसपर कुछ दबाव ही पड़ा। उसीने मुझसे कहा और वहाँके रईसोंने भी कहा कि हम लोगोंने भी इसे प्रत्यक्ष देखा है।'

चाहिअ करन सो सब करि बीते। तुम्ह सुर असुर चराचर जीते॥ २॥

संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥ ३॥

शब्दार्थ—**करि बीते**=कर गुजरे, कर चुके। **पन**=आयुके चार भागोंमेंसे एक अवस्था। बाल्य, युवा, प्रौढ़ा और वृद्धा—ये चार अवस्थाएँ हैं। **जाइहि**=जाना चाहिये, जाय।

अर्थ—आपको जो कुछ भी करना चाहिये था वह सब आप कर चुके (कुछ करना बाकी नहीं है, जो तुम अब भी राज्य छोड़कर भजन करने न जा सको)। आपने सुर, असुर (ही नहीं किंतु), चराचरमात्रको जीत लिया (अब किसीको जीतना शेष नहीं है)॥ २॥ हे दशानन! संत ऐसी नीति कहते हैं कि राजा चौथेपनमें वनको जाय॥ ३॥*

नोट—१-सुरोंमें देवराज इन्द्र सबसे बड़ा है, उसको भी जीत लिया। जितने दिक्पाल हैं उनको जीता। ब्रह्मा और महेशतक तुम्हारे यहाँ नित्य हाजिरी (उपस्थिति) देते हैं। असुरोंमें विद्युज्जिह्वको मारा और सभीने तुमको अपना राजा माना। जड़में कैलास पर्वतको भी गेंद-सरीखा उठा लिया। कोई जीतनेको न रह गया, यथा—'*ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबर्ती नर नारी॥*' (१। १८२। ११) ऐसा ही अङ्गदने कहा है—'*बर पाएहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥*' (२०। ४)

भाव यह कि इस लोकमें प्राणी इससे अधिक ऐश्वर्य प्राप्त नहीं कर सकता और न किसीने इससे अधिक कुछ किया। आगे कवि इसके ऐश्वर्यका वर्णन स्वयं करते हैं, यथा—'*सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास।*' (१०) इससे हद है।

इससे यह भी जनाया कि अब केवल परमार्थ बनाना रह गया है सो उसे रघुवीरका भजन करके पूरा कर लो। इसमें यह भी ध्वनि है कि यदि नहीं करते तो पूर्वका सब कमाया हुआ ऐश्वर्य एवं जीवन व्यर्थ ही हो जायगा। यथा—'*राज सुरेस पचासक को, बिधि के कर को जो पटो लिखि पाए। पूत सुपूत पुनीत प्रिया निज सुंदरता रति को मद नाए॥ संपति सिद्धि सबै तुलसी मन की मनसा चितवैं चित लाए। जानकि जीवन जाने बिना जग ऐसेउ जीवन जीवत जाए॥*' (कवि० ७। ४५) '*काम से रूप प्रताप दिनेस से सोम से सील गनेस से माने। हरिचंद से साँचे बड़े बिधि से मघवा से महीप बिषय सुख साने। सुक से मुनि सारद से बकता चिरजीवन लोमस से अधिकाने। ऐसे भए तो कहा तुलसी जु पै राजिवलोचन राम न जाने॥*' (कवि० ७। ४३)

नोट—२—'*संत कहहिं* ……'। संत=सत्पुरुष, सज्जन। जैसे मनु, याज्ञवल्क्य, पुलस्त्य, वाल्मीकि, व्यासजी इत्यादि। नीति, यथा—'**गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥**' (मनु०)

'*संत कहहिं*' का भाव कि कुछ मैं अपनेसे गढ़कर नहीं कहती संतोंने ऐसा कहा है; उन्हींका कथन मैं आपसे कहती हूँ।

* 'प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्। तृतीये नार्जितो धर्मश्चतुर्थे किं करिष्यति॥'

तासु भजनु कीजिअ तहँ भरता। जो करता पालक संहरता॥ ४॥

शब्दार्थ—**भरता** (भर्ता)=स्वामी, पति। **करता** (कर्त्ता)=उत्पन्न करनेवाला।

अर्थ—हे प्राणपति! वहाँ (वनमें जाकर) उनका भजन कीजिये जो जगत्के उत्पन्न, पालन और नाश करनेवाले हैं॥ ४॥

नोट—'कर्ता, पालक, संहर्ता'। परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपोंसे यह तीनों कार्य करते हैं, यथा—'*जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥*' (सु० २१। ५), '*बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई।*' *बिष्नु कोटि सत पालनकर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहरता॥*' (उ० ९२)

इस कथनका भाव यह है कि पैदा करना, जिलाना वा पालन करना एवं संहार करना जब यह सब इन्हींके हाथ है, तब इनको छोड़ और किसका भजन होना चाहिये? ब्रह्मादिक एक-ही-एक कार्य कर सकते हैं, दूसरा कार्य उनके अधिकारमें नहीं है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी इन्हींके अधीन हैं। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

वि० त्रि०—मन्दोदरी कहती है कि संसारमें जो कुछ करना चाहिये, वह सब तुम कर चुके, अब कुछ भी शेष नहीं है, अब तुम्हारी अवस्था वनमें जाकर भजन करनेकी है, यही सनातन रीति है। घरमें रहकर मनोरथकी सिद्धियोंके लिये लोग देवताओंकी उपासना करते हैं (यथा—'**आरोग्यं भास्करादिच्छेद् धनमिच्छेद्धुताशनात्।**') और वनमें जाकर उस औपनिषत् पुरुषको भजते हैं, जो कर्त्ता, पालक और संहर्ता है, यथा—'**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्ति (यत्प्रयन्त्यभि) संविशन्ति। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**' (तैत्तिरीयोपनिषद्)' अर्थात् जहाँसे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए प्राणी जीते हैं और जिसमें साथ हो जाते हैं। वह कौन है इसका प्रतिपादन करते हुए श्रुति कहती है कि आनन्दसे ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही जीते हैं और आनन्दमें ही लय होते हैं।' वही आनन्दसिन्धु राम हैं, यथा—'*जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। सकल लोक दायक बिश्रामा॥*', अत: '**विविक्तवासिन: सदा भजन्ति मुक्तये मुदा।**' एकान्त वनमें बसनेवाले मुक्तिके लिये उन्हीं आनन्दसिन्धु श्रीरामका भजन करते हैं अत: तुम भी वनमें जाकर उन्हीं रामको भजो।

सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी। भजहु नाथ ममता* सब त्यागी॥ ५॥

अर्थ—हे नाथ! उन्हीं (कर्त्ता, पालक, संहर्ता एवं) शरणागतपर प्रेम करनेवाले रघुवीरको सब ममत्व छोड़कर भजो॥ ५॥

नोट—१ '*रघुबीर*' अर्थात् रघुकुलमें जितने राजा रघु आदि हो गये उन सबसे ये वीर हैं, एवं पञ्चवीरतायुक्त हैं। '*प्रनत अनुरागी*' हैं; यह बात हनुमान्जी और विभीषणजीसे सुन चुकी है, यथा—'*प्रनत पाल रघुबंसमनि करुनासिंधु खरारि। गए सरन प्रभु राखिहहिं तव अपराध बिसारि॥*' (सुं० २२), '*सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥*' (सुं० ३९)

'*भजहु नाथ ममता सब त्यागी*'। (क)—'सब ममता' अर्थात् स्त्री, पुत्र, भाई, परिवार, राज्य आदिका ममत्व। यथा—'*जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी॥*' (सु० ४८) (ख)—'*सब ममता*' छोड़नेको कहा; क्योंकि मन तो एक ही है। यदि वह प्राकृत सम्बन्धियों और जगत्के जंजालोंमें फँसा रहेगा तो प्रभुमें नहीं लग सकता। स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु आदि सब सम्बन्ध एक प्रभुहीसे मानकर सब भावसे उन्हींमें ममत्व करो। (ग)—संसारके पदार्थों-सम्बन्धोंमें ममत्व होना भजनका बाधक है, यथा—'*सुख संपति परिवार बड़ाई॥ सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद आराधक॥*' (कि० सुग्रीववाक्य रामप्रति)।

* 'ममता मद' पाठान्तर कुछ आधुनिक पुस्तकोंमें मिलता है।

क० उ० ३०में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'*सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सब की ममता तजि कै समता सजि संत सभा न बिराजहि रे॥*'

संतसभामें विराजमान होने अर्थात् भगवद्भजन करनेके लिये, सबका ममत्व छोड़ना आवश्यक है। सुं० ४८ (४-५) देखिये। पुनः, यथा—'*करहिं जोग जोगी जेहि लागी। लोभ मोह ममता मद त्यागी॥*'

(घ) ममता छोड़ भजन करना कहकर जनाया कि ऐसा करनेसे तुम प्रभुके अत्यन्त प्रियपात्र हो जाओगे, यथा—'*अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥*' (सुं० ४८)

☞ वाल्मीकिजीने १४ स्थान प्रभुके निवासके बताये हैं, उनमेंसे दो स्थान ये भी हैं, यथा—'*स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम तात। मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥*' (अ० १३०)

'**जाति पाँति धन धर्म बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥**

सब तजि तुम्हहि रहइ लौ लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥ (२।१३१)

सब ममत्व छोड़नेसे प्रभुका हृदयमें निवास होगा।

(३) सब ममता त्याग करनेको कहती है। आगे बताती है कि मैं कुछ नयी बात नहीं कहती, पूर्व भी राजाओंने सब छोड़ भजन किया है।

मुनिबर जतनु करहिं जेहि लागी। भूप राजु तजि होहिं बिरागी॥ ६॥

सोइ कोसलाधीस रघुराया। आएउ करन तोहि पर दाया॥ ७॥

अर्थ—जिसके लिये बड़े-बड़े श्रेष्ठ मुनि यत्न करते हैं और राजा लोग राज्य छोड़कर वैरागी हो जाते हैं॥ ६॥ वही कोशलराजके स्वामी रघुनाथ रामचन्द्रजी आपपर दया करने आये हैं॥ ७॥

नोट—१ '*मुनिबर जतनु करहिं जेहि लागी*', यथा—'*जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥*' (कि० १०। ३) '*जतनु करहिं*' का भाव कि साधन करते हैं, फिर भी निश्चय नहीं कि उनकी प्राप्ति अवश्य हो, यथा—'*जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।*' (कि० १०) '*मुनिवर*' से जनाया कि महर्षि अगस्त्य, पर्वत, शरभंग, अत्रि आदि मुनिश्रेष्ठ उन्हींके लिये साधन किया करते हैं (इतर मुनियोंकी बात ही क्या?)जिन (ऋषियों) को तुम भी डरते हो। इसलिये तुमको भी उनका भजन करना योग्य ही है। '*जतनु*'—पञ्चप्राण, मन, इन्द्रिय आदिका वश करना, विषयोंसे वैराग्य करना इत्यादि यत्न हैं। (कि० १० छंद देखिये)

नोट—२ '*भूप राज तजि होहिं बिरागी*'। भाव कि मनु आदिने राज्यादि लौकिक सुखोंको भोगकर उन्हें तुच्छ समझकर छोड़ दिया और प्रभुका भजन श्रेष्ठ समझा, यथा—'*बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥*' (१। १४३। १)—(मनु) '*जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा। हरि हित आपु गवन बन कीन्हा॥*'—(सत्यकेतु बा० १५३)। तुम भी राजा हो, तुम्हारा भी यही कर्तव्य है कि उनके अनुभवका लाभ उठाओ और भजनमें लगो। बिना राज्य छोड़े विषयोंसे वैराग्य नहीं होता, यथा—'*होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।*' (१४२)

नोट—३ '*सोइ कोसलाधीस*……।' इति। (क) मुनिश्रेष्ठ और वैराग्यवान् राजा लोग जिनके लिये यत्न करते हैं, वे यही हैं, कोसलाधीशरूपसे प्रकट हुए हैं। (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि यदि रावण कहे कि वे तो हमारा राज्य लेने आये हैं तो उसपर वह कहती है कि वे 'कोसलाधीस' हैं अर्थात् वे कोशलपुरीमें ही राज्य करेंगे, लंकाका राज्य नहीं चाहते। इसपर यदि वह कहे कि अपना हठ छोड़नेसे मेरी निन्दा होगी तो उसपर आगे कहती है कि '*जौं पिय*……'। (ग) '*आयउ करन तोहि पर दाया*' भाव कि मुनिवरोंके यत्न करनेपर उनको ध्यानमें भी कदाचित् ही प्राप्त होते हैं और तुम्हें तो साक्षात् घर बैठे दर्शन देने आये हैं, तुम्हारे समान कौन बड़भागी हो सकता है? इससे उत्तम अवसर तुम्हें बिगड़ी सँवार लेनेका कहाँ मिलेगा? यथा—'**भवदर्थे रघुश्रेष्ठो मानुषत्वमुपागतः**', —(अ० रा० १०। ५२), '*मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥*' (कि० १०। ५)

रा० प्र०—भाव कि महात्मा शबरी, शरभंग, सुग्रीव, विभीषण और समुद्र आदिपर कृपा करते चले आ रहे हैं; अब तुम्हारी बारी है, तुमपर कृपा करने आये हैं।

वीर—मंदोदरीने प्रथम यह विशेष बात कही कि जिनके लिये मुनि यत्न करते हैं और राजा राज्य छोड़ देते हैं, फिर इसका समर्थन साधारण बातसे करती है कि वही कोशलेश तुमपर दया करने आये हैं। इतनेपर संतुष्ट न हो फिर विशेष प्रार्थना करना कि मेरी शिक्षा मानिये, त्रिलोकमें यश होगा, 'विकस्वर अलंकार' है।

जौं पिय मानहु मोर सिखावन। सुजसु होइ तिहुँ पुर अति पावन॥ ८॥

अर्थ—हे प्राणपति! यदि आप मेरी सीख मान लें तो आपका अत्यन्त पवित्र और सुन्दर यश तीनों लोकोंमें होगा॥ ८॥

नोट—१ *'जौं'* संदिग्ध वचन है। इससे जनाया कि इतना उपदेश होनेपर भी रावणकी चेष्टा ऐसी न हुई जिससे समझा जाता कि वह इसका कहा करेगा। यह भी जनाया कि मंदोदरीको उसके शिक्षा ग्रहण करनेमें सन्देह है, वह समझती है कि यह न मानेगा, क्योंकि अबतक उसने उपदेश नहीं माना।

नोट—२ *'सुजसु होउ तिहुँ पुर अति पावन'।* (क) भाव कि मिलनेपर तुमपर कृपा करेंगे, यथा—*'मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहहिं। उर अपराध न एकउ धरिहहिं॥'* (सुं० ५७; शुकवाक्य) वे जिसपर कृपा करते हैं उसका सुयश त्रैलोक्यमें विख्यात हो जाता है। यथा—*'जामवंत कह सुनु रघुराया। जापर नाथ करहु तुम्ह दाया॥ ताहि सदा सुभ कुशल निरंतर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥ सोइ बिजई बिनई गुनसागर। तासु सुजस त्रैलोक उजागर।'* (सुं० ३०)

पुनः, भाव कि जो तुम्हारा अपयश हो रहा है वह मिट जायगा और ध्रुव, प्रह्लाद, बलिके समान यश मिलेगा।—*'दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं।'* 'अतिपावन' का भाव कि उस कीर्तिको सुनकर और भी लोग पावन हो जायँगे। यथा—*'जाको हरि दृढ़ करि अंगु कर्यो। सोइ सुसील पुनीत बेदबिद बिद्या गुनन्हि भर्यो॥ उतपति पांडुसुतन्हि की करनी सुनि सत पंथ डर्यो। ते त्रैलोक्य पूज्य पावन जस सुनि सुनि लोग तर्यो॥'* (वि० २३९) (ख) रा० प्र०—भाव कि सब यही कहेंगे कि रावण सर्वविजयी, परमज्ञाता, पण्डित और ज्ञानी था, इसीसे अन्तमें प्रभु (को अवतार लिवाकर उन) की शरण गया। अन्य लोग भी तुम्हारी देखादेखी ऐसा ही करेंगे, अतएव तुम सबके आचार्य होगे।

दो०—अस कहि नयन नीर* भरि गहि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघुनाथहि† अचल होइ अहिवात॥ ७॥

शब्दार्थ—अहिवात=सोहाग, सौभाग्य, स्त्रीकी सधवा रहनेकी अवस्था। यथा—*'अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा॥'*

अर्थ—ऐसा कह नेत्रोंमें जल भरकर उसने पतिके चरण पकड़ लिये। उसका सारा शरीर काँपने लगा। (वह यह कहने लगी) हे नाथ! रघुनाथजीको भजो, जिससे मेरा सुहाग अचल हो जाय॥ ७॥

नोट—१ *'अस कहि'* पूर्वकथित वचनोंके साथ है और आगेके भी।

नोट—२ *'नयन नीर भरि'*, *'गहि पद'* और *'कंपित गात'* ये सब भावी वैधव्यके भय और सोच एवं शोकके कारण हैं। धैर्य छूटनेपर भी यह दशा होती है। रावण सुनी अनसुनी कर रहा है; इसलिये वह अधीर हो गयी, यथा—*'कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥'* (अ० ७०) (यह लक्ष्मणजीकी दशा हो गयी थी, यह सोचकर कि वियोग तो नहीं हो रहा है।) आदिमें, चरणोंमें मस्तक नवा अञ्चल पसारकर ये सब बातें कहीं; पर उसपर कुछ प्रभाव न पड़ा देख उसे अपने सुहागकी चिन्ता हो गयी, वैधव्यके भयसे अत्यन्त दुःख उत्पन्न हो गया और वह डरके मारे काँपने लगी, आँखोंसे आँसू

* 'बारि'—(का०), (मा० म०) † 'रघुबीर पद मम अहिवात न जात'—(का०) । 'रघुबीरपद अचल होइ अहिवात'—(ना० प्र०)। रघुनाथ पद—(मा० म०)।

बरबस निकल पड़े। अतएव अब वह चरणोंपर गिर पड़ी और चरण पकड़े-पकड़े ही यह उसने कहा कि *'नाथ भजहु'''।'* कुछ लोगों (पाँ०, बं० पा०) का मत है कि 'रावणको उसने खद्योत-समान कहा है; इससे डरी। अथवा, अनीतिमान् रावणसे नीति कहनेमें डरती है—(पाँ०)। वा, इससे डरी कि इसने सीताको बहुत दुःख दिया है, इसके पीछे न जाने वानर मेरी क्या दशा करें।—(पं०)।'

पं०—(क) यह दशा अति विह्वलताके कारण हुई। (ख) नेत्रोंमें जल भरकर सूचित किया कि अब तुमसे-मुझसे वियोग होनेके लक्षण जान पड़ रहे हैं। (ग) *'पद गहि'* का भाव कि इन चरणोंका संग मैं सदा चाहती हूँ, इनका संग न छुड़ाइये। (घ) इन चरणोंका संयोग बना रहे, इसका उपाय बताती है कि रघुनाथजीको भजो। भाव यह कि रघुवीरको छोड़ तुमको और कोई मार नहीं सकता, अतएव उनकी शरण जानेसे तुम सबसे अमर हो जाओगे, यह सिद्ध हुआ। तुम्हारे अमर होनेसे मेरा सुहाग अचल हुआ ही है।

नोट—३ श्रीहनुमान्‌जीके वचन सुन चुकी है कि श्रीरघुनाथजीका भजन करनेसे राज्य अचल हो जायगा, यथा—*'रामचरनपंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥'* (सुं० २३) उसीको समझकर यहाँ मन्दोदरी अपने सुहागकी अचलताके लिये रघुनाथजीको भजनेका उपदेश करती है। पुनः, उत्तरार्द्धमें यह भी ध्वनि है कि इनको छोड़ और किसीके भी भजनसे मेरा अहिवात अचल नहीं हो सकता। यह बात भी हनुमान्‌जीसे सुन चुकी है, यथा—*'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी। संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥'* (सुं० २३)

वीर—इस दोहेंमें विविध भावों और अनुभावोंका सम्मेलन है।

मा० म०(मयूख)—१ मन्दोदरीने अनेक रीतिसे रावणको उपदेश दिया। (क) ***'मम अहिवात न जाइ'*** अर्थात् तुम्हारे वधसे मेरा सुहाग चला जायगा, यह पतिव्रतधर्मकी रीतिसे शिक्षा हुई। *'सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ''''*, यह जीवधर्म उपदेश किया क्योंकि रामचन्द्रजीका भजन करना ही जीवका परम धर्म है।

मयूख—२ *'अतिबल मधुकैटभ जेहि मारे। महाबीर दितिसुत संहारे॥ जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महिभारा॥'* यह विष्णुकल्पकी कथा है। इसके पश्चात् परतम अवतारकी कथा है। मन्दोदरीके वचनका संदर्भ यह है कि अत्यन्त बलवान् मधु-कैटभ, महावीर हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुको जिसने मारा, बलिको जिसने बाँधा और सहस्रार्जुनको जिसने मारा, वह भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतार लेते हैं, उनसे युद्ध करना तुम्हारे लिये अत्यन्त दुष्कर है, तो तुम परतम श्रीरामचन्द्रजीसे वैर कर कब पार पावोगे, जिसके हाथमें काल, कर्म और जीव हैं। ऐसा विचारकर वैर न करो, सीताको दे दो और पुत्रको राज्य देकर भजन करो।

तब रावन मयसुता उठाई। कहइ लाग खल निज प्रभुताई॥ १॥
सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना॥ २॥

अर्थ—तब मयदानवकी कन्या मन्दोदरीको उठाकर दुष्ट रावण अपनी प्रभुता (महिमा) कहने लगा॥ १॥ हे प्रिये! सुन, तूने व्यर्थमें ही डर मान रखा है; बतला तो सही कि संसारभरमें मेरे समान कौन योद्धा है॥ २॥

नोट—१(क) *'तब'* अर्थात् जब मन्दोदरी बहुत प्रकार विनीत हो विनतीकर थकके पैरोंपर गिर पड़ी तब। (ख) *'रावन'* का भाव कि यह जगत्‌को रुलानेवाला एवं स्वयं रोनेवाला है। इसके इस कर्त्तव्यसे उसको एवं मन्दोदरीको रोना पड़ेगा।

पं०—*'मयसुता'* का भाव कि इसी बातके कहनेपर विभीषणको रावणने लात मारकर निकाल दिया था, यह बात तो मन्दोदरीकी भी न मानी पर मयदानव, जो बड़ा प्रतिष्ठित है, उसकी सुता जानकर उसने इसका निरादर न किया वरन् उसके ढाढसके लिये अपनी प्रभुता कहने लगा।—

[मयदानवका बड़ा उपकार रावणपर है, क्योंकि उसने इसे अमोघशक्ति दी है, जिससे वह अपने प्राणोंकी रक्षा कर सके। यही शक्ति वाल्मीकिके मतानुसार लक्ष्मणजीको उसने मारी, पुनः इसने नीतिके वचन कहे

इससे *'मयसुता'* पद दिया, यथा—*'सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनया कहि नीति बुझावा॥'* (सु० १०) पुनः, यथा—'**इयं ममात्मजा राजन्हेमयाप्सरसा धृता॥ कन्या मन्दोदरी नाम पत्न्यर्थं प्रतिगृह्यताम्। बाढमित्येव तं राम दशग्रीवोऽभ्यभाषत॥ ''''''अमोघां तस्य शक्तिं च प्रददौ परमाद्भुताम्॥ परेण तपसा लब्धां जघ्निवाँल्लक्ष्मणं यया।**' (वाल्मी० उ० १२। १८—२२),

रा० प्र०—*'कहइ लाग खल'* इति। प्रायः वक्ता बड़े बेलाग होते हैं और अच्छेहीकी ओर ढरनेवाले होते हैं। रावणके हठ आदि दोषोंको देख उसे *'खल'* कहा।

पु० रा० कु०—अपनी प्रभुता आप ही कहने लगा। अतएव 'खल' अर्थात् मूर्ख कहा। अपनी प्रभुता अपने मुखसे कहनेसे लघुता प्रमाणित होती है, यथा—'**इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः**'। मिलान कीजिये—*'अपने मुह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥'* (लक्ष्मणवचन परशुरामप्रति; १। २७४। ६)

नोट—२ *'बृथा भय माना।'* का भाव कि भयकी कोई जगह वा योग नहीं है; तुमने अपनेसे मान लिया है। जगत्में कोई मेरे समान नहीं है, तब ये मनुष्य शत्रु क्या हैं? यथा—'**किं ते भीरु भिया निशाचरपतेर्नासौ रिपुर्मे महान्। यस्याग्रे समरोद्यतस्य न सुरास्तिष्ठन्ति शक्रादयः॥ महोर्दण्डकमण्डलोद्धृतधनुः शिक्षाः क्षणान्मार्गणाः। प्राणानस्य तपस्विनः सति रणे नेष्यन्ति पश्चाधुना॥**' (हनुमन्नाटक। ९। ६)

अर्थात् जब मैं निशाचरपति रावण संग्राममें उद्यत होता हूँ तब मेरे सामने इन्द्रादि देवगण भी नहीं खड़े रह सकते, यह शत्रु तो मेरे लिये कुछ भी बड़ा नहीं है। फिर तेरे भयसे क्या है? मेरे भुजदण्डोंसे निकले हुए बाण क्षणमात्रमें तपस्वीके प्राण ले लेंगे।

जो मन्दोदरीने कहा था कि *'तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खल खद्योत दिनकरहि जैसा॥'* (६। ६), उसका उत्तर है कि *'जग जोधा को मोहि समाना।'*—(खर्रा—यह बात ठीक है कि जगत्में कोई रावणके समान योद्धा नहीं है, पर ये तो जगत्से परे हैं।)

वि० त्रि०—तब रावणने मयकी बेटीको उठाया। सभी रानियोंमें रावण मन्दोदरीकी बड़ी प्रतिष्ठा करता है; क्योंकि वह मय (दैत्योंके विश्वकर्मा) की बेटी और पट्टाभिषिक्ता महिषी थी। वह चरणपर गिरी हुई अञ्चल रोपे हुए अहिवात माँग रही है। अतः प्रेमसे उसे उठा लिया। कहने लगा कि प्रेमीका चित्त अनिष्टशंकी होता है, इसलिये तुझे झूठा भय उत्पन्न हो गया। सीताके मुखसे तुमने सुन लिया कि *'खद्योत प्रकासा, कबहु कि नलिनी करइ बिकासा'* बस, उसीको सच मान लिया कि मैं खद्योत हूँ और वह तपस्वी सूर्य है, वह कीड़ेकी भाँति मुझे मल देगा और मैं मर जाऊँगा। मेरी प्रभुता तो सुनो कि मैंने क्या-क्या किया है, क्या इनमेंसे एक कार्य भी उस तपस्वीसे हो सका है कि तुम इतना डर रही हो।

बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥ ३॥
देव दनुज नर सब बस मोरे। कवन हेतु उपजा भय तोरे॥ ४॥

शब्दार्थ—**दिगपाल** (दिक्पाल) दसों दिशाओंके पालन करनेवाले देवता, यथा—पूर्वके इन्द्र, अग्निकोणके वह्नि, दक्षिणके यम, नैर्ऋत्यकोणके निर्ऋत वा काल, पश्चिमके वरुण, वायुकोणके मरुत, उत्तरके कुबेर, ईशानकोणके ईश, ऊर्ध्व दिशाके ब्रह्मा और अधोदिशाके अनन्त। पुनः, यथा—'**इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत्। कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्॥**' (अमरकोश) दनुज—दक्षकी कन्या दनु जो कश्यपको व्याही थी, उससे ४० पुत्र हुए। ये और इनके वंशज दनुज एवं दानव कहलाते हैं।

अर्थ—वरुण, कुबेर, पवनदेव, यमराज, काल आदि सभी दिक्पालोंको मैंने अपनी भुजाओंके बलसे जीत लिया है॥ ३॥ देवता, दानव, मनुष्य सभी मेरे अधीन हैं। तब किस कारण तुझे डर पैदा हो गया॥ ४॥

नोट—१ *'भुजबल जितेउँ।'* का भाव कि मन्त्रसे भी देवता वशमें किये जाते हैं। यथा—*'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।'*(१। २५६) पर मैंने मन्त्र या विनयसे वशमें नहीं किया, वरन् सन्मुख बाहु-बलसे लड़कर जीता है। यम और कालको लोग योगद्वारा जीतते हैं, मैंने भुजबलसे जीता है।

नोट—२ *'सकल दिगपाला'।* यहाँ वरुण, कुबेर, पवन और यम, इन चारके नाम दिये। **'सकल दिगपाला'** कहकर जो शेष रहे उनको भी कह दिया। सब वशमें हैं, यथा—*'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सब ही के पंथहि लागा। ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसवर्ती नर नारी॥'……भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र॥'* (१। १८२), *'बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धरि काहु न धीरा॥ भुजबल जितेहु काल जम साईं।'* (१०३। ७-८)

नोट—३ वरुण—वैदिक कालमें ये प्रधान देवता थे। ये अदितिके ८ पुत्रोंमें कहे गये हैं। ये जलके अधिपति देवता हैं और जलाशयोत्सर्गमें इनका पूजन होता है। साहित्यमें ये करुणरसके अधिष्ठाता माने गये हैं। निरुक्तकार इन्हें द्वादश आदित्योंमें बतलाते हैं।

यम—ये दक्षिण दिशाके दिक्पाल कहे जाते हैं और आजकल मृत्युके देवता माने जाते हैं। वैदिक कालमें यमको लोग मृत्युसे भिन्न मानते थे। पर पीछेसे यम ही प्राणियोंको मारनेवाले माने जाने लगे। वैदिक कालमें ये मृत पितरोंके अधिपति तथा मरनेवालेको आश्रय देनेवाले माने जाते थे। तबसे अबतक इनका एक अलग लोक माना जाता है जो यमलोक कहलाता है। स्मृतियोंमें १४ यमोंके नाम आये हैं—यम, धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत, काल, सर्वभूतक्षय, उदुम्बर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र और चित्रगुप्त। ये सूर्यके पुत्र विश्कर्माकी कन्या 'संज्ञा' से हुए।

कुबेर—इन्द्रकी नौ निधियोंके भण्डारी और शिवजीके मित्र हैं। समस्त संसारके धनके स्वामी हैं। ये उत्तर दिशाके अधिपति हैं।

नोट—४ *'देव दनुज नर'* से त्रैलोक्यका वशीभूत होना जनाया। देवसे स्वर्गलोक एवं सब देवलोक, दनुजसे पाताललोक और नरसे भूलोक। सब वशमें हैं अर्थात् मुझसे डरते हैं, सब नित्य मेरे यहाँ हाजिरी देते हैं और मेरी आज्ञाका पालन करते हैं, मेरे यहाँ नीच टहल करते हैं। यथा—*'आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥'* (१। १८२) पुनः, यथा—**'मरुद्रुद्रादित्यौ शतमुखमुखास्ते क्रतुभुजः पुरद्वारे यस्याः सभयमुदसर्पन्त्यनुदिनम्॥'** (हनुमन्नाटक अङ्क १४) अथार्त् मरुत, रुद्र, आदित्य और इन्द्रादि देव जिस लङ्काके द्वारपर प्रतिदिन भयसहित फिरते हैं।

नोट—५ दिक्पाल एवं देव, दनुज, नर सब वशमें हैं, यह कहकर *'कवन हेतु उपजा भय तोरे'* कहनेका भाव कि मुझ दिग्विजयी रावणकी स्त्री होकर तेरा भयभीत होना उपहास-योग्य है, सब हँसेंगे। यथा—*'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥'* (सु० ३७)

करु०—रावण कहता है कि मैंने सभी दिक्पालोंको जीत लिया। यहाँ रावण वीररसके अवान्तर शान्तरस कह रहा है। वीररस जो कह आये (कि) उन सबको जीत लिया, यह कथा प्रसिद्ध है; पर कालका जीतना कैसे सम्भव है? काल जो यमराजादि आठों दिक्पालों एवं ब्रह्माण्डोंको भी भक्षण कर लेता है, उसे रावण कैसे जीत सकता है। यदि जीत लिया था तो मरा कैसे? यह शङ्का उत्पन्न होती है। इसका समाधान यह है कि यहाँ रावणने वीररसके वचन कहे हैं, जिसके अवान्तर शान्तरस है। वह मन्दोदरीसे कहता है कि तुमने जो कहा कि वे ईश्वर हैं, काल उनके वश है सो मैंने भी तो कालको जीता है। यह कैसे? सो सुनो। जबसे मेरा जन्म हुआ तबसे कितने युग बीत गये, पर मेरे भयसे काल मेरे समीप नहीं आ सका; और जिनकी तूने बड़ाई की है उनसे युद्धकर परमपदको जाऊँगा, फिर इस प्रकृतिमण्डलमें न आऊँगा। रावण पूर्ण पण्डित और तत्त्ववेत्ता है, क्योंकि ब्रह्मा स्वयं उसे वेद पढ़ाते, सुनाते थे।

गौड़जी—वरदानके कारण रावण रामजीके हाथ ही मरेगा। काल उसे मार नहीं सकता। यही बात है कि उसने सब दिक्पालोंमें निर्ऋत या कालको भी जीत लिया था। 'काल' से पहले तो काल नहीं मार सकता। अतः इस तरह भी उसका कालपर चढ़ाई करके उसको पराजित करना सम्भव हो गया।

☞ स्मरण रहे कि एक नश्वर काल है और एक शाश्वत काल। काल जो देवता और दिक्पाल है वह नश्वरकाल है जिसे रावणने जीता है। शाश्वतकाल तो स्वयं प्रभु ही हैं जो *'भुवनेश्वर कालहु कर काला'* हैं।

नाना बिधि तेहि कहेसि बुझाई। सभा बहोरि बैठ सो जाई॥ ५॥
मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बस्य* उपजा अभिमाना॥ ६॥

अर्थ—अनेक प्रकारसे उसने समझाकर कहा, फिर वह सभामें जाकर बैठ गया॥ ५॥ मन्दोदरीने हृदयमें ऐसा जान लिया (निश्चय कर लिया) कि कालके वश होनेसे मेरे पतिदेवके मनमें अभिमान उत्पन्न हो गया है॥ ६॥

नोट—१ *'बिहँसि गएउ गृह करि भय भोरी।'* (६। १) उपक्रम है और *'सभा बहोरि बैठ सो जाई'* उपसंहार। ६ (४) से ८ (५) तक मन्दोदरी-रावण-संवाद है।

नोट—२ *'सभा बहोरि बैठ सो जाई'* कहकर जनाया कि सभामें लज्जित होता था तब महलमें चला जाता था कि वहाँ विश्राम मिलेगा और वहाँ मन्दोदरी उपदेश करती तब वहाँसे सभामें शरण लेता कि यहाँ जी बहल जाय, पर उसे कहीं सुख न मिलता था—*'रामबिमुख सुख सपनेहु नाहीं।'* *'बहोरि'* अर्थात् यहींसे उठकर गया था, अब फिर वहीं आ बैठा।

गौड़जी—मन्दोदरीने सोचा कि अब मृत्यु होनेवाली है। उसीके वशमें इन्हें यह मोह, अभिमान उत्पन्न हुआ है।

सभा आइ मंत्रिन्ह तेहिं बूझा। करब कवन बिधि रिपु सैं† जूझा॥ ७॥

अर्थ—सभामें आकर उसने मन्त्रियोंसे पूछा कि किस प्रकार शत्रुसे युद्ध करना होगा॥ ७॥

नोट—१ भाव कि हम यह नहीं पूछते कि सामादिसे क्या बर्तें, लड़ें या न लड़ें, यह हमारा आशय नहीं है; हम युद्धका निश्चय कर चुके हैं, तुम केवल यह सलाह बताओ कि किलेसे लड़ाई करें, या मैदानमें जाकर प्रथम हमारी ओरसे ही युद्ध किया जाय, या व्यूह-रचना करें, या और कोई युद्धका प्रकार बता सको सो बताओ, जिससे हमारी युद्धमें जीत हो, सीताको न देना पड़े और शत्रुका नाश हो। यथा—**'परे पारे समुद्रस्य पुरस्कृत्य नृपात्मजौ। सीतायाः पदवीं प्राप्य संप्राप्तौ वरुणालयम्॥ अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ। भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्रः सुनीतं चाभिधीयताम्॥'** (वाल्मी० ६। १२। २४-२५)

नोट—२ रावण तो मनमें युद्ध ठान ही चुका था और अभी-अभी मन्दोदरीसे अपने भुजबलकी प्रशंसा अभिमानपूर्वक करके आया है; तब उसे मन्त्रियोंसे पूछनेकी आवश्यकता ही क्या थी, विशेषतः जब वह हितोपदेश किसीका सुनता ही नहीं? इसका समाधान एक तो यह है कि ऊपरसे वह यह भी दिखाना चाहता है कि मैं राजनीतिके अनुसार चलता हूँ, राजाको मन्त्रियोंसे सम्मति लेकर कार्य करना चाहिये। दूसरे, रावण रामचन्द्रजीका समुद्रपर सेतु बाँधकर सेनासहित लङ्कामें आना सुनकर घबड़ाया हुआ था; इससे मन्त्रियोंसे सलाह पूछने लगा। यथा—*'चाराणां रावणः श्रुत्वा प्राप्तं रामं महाबलम्। जातोद्वेगोऽभवत्किंचित्सचिवानिदमब्रवीत्॥'* (वाल्मी० ६। ३१। २)

अर्थात् रामजीका लङ्कामें आना दूतोंसे सुनकर वह कुछ घबड़ा गया था, इससे मन्त्रियोंको बुलाकर बोला। वाल्मी० ३१ के ये वचन रावणके उस समयके हैं जब वानरसेना समुद्रपार सुवेलपर आ पहुँची थी। उसने मन्त्रियोंसे पूछा कि वह सलाह बताओ जिसमें सीताको देना न पड़े और दोनों राजकुमारोंका नाश हो जाय।

कहहिं‡ सचिव सुनु निसिचर नाहा। बार बार प्रभु पूछहु काहा॥ ८॥
कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥ ९॥

शब्दार्थ—नाह=स्वामी, राजा।

अर्थ—(यह सुनकर) मन्त्री बोले—हे राक्षसराज! हे प्रभो! सुनिये। आप बार-बार क्या पूछते हैं?॥ ८॥ कहिये तो; ऐसा कौन-सा महान् भय है जिसके लिये विचार किया जाय? नर और वानर-भालु तो हमारे आहार (भोजन, भक्ष्य)ही हैं॥ ९॥

---

* 'बिबस'—(का०), वस्य—(छ०, भा० दा०)।

† तें—(गौड़), सै—(का०)। ‡ 'कहहि'—(का०)

नोट—१ *'निसिचर नाहा'* और *'प्रभु'* सम्बोधन देनेका भाव कि आपकी प्रजामें ऐसे-ऐसे सुभट हैं कि एक-एक जगत्-भरको जीत ले, यथा—*'कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय॥'*(१। १०८), और आप तो सबके स्वामी हैं। आपके बलकी तो सीमा ही नहीं, तब आप क्या भय वा चिन्ता कर रहे हैं। [पुनः, *'निसिचर नाहा'* का भाव कि आप हम सबके राजा हैं, आपने जो विचार कर रखा है वह हमारे हितकर ही है। आप निशिचरकुलका भला ही करते आये हैं और करेंगे, क्योंकि आपका जो विचार है कि कालकी प्रेरणासे वानरीसेना घर बैठे आ गयी, यथा—*'पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई॥'* (सुं० ५३), हम भी उसमें सहमत हैं। (खर्रा)] 'प्रभु' अर्थात् आप स्वयं भी समर्थ हैं, यह नहीं कि निशिचरोंके ही सहारे हों, यथा—*'भुज बल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतंत्र'*।

नोट—२ *'बार बार पूछहु काहा।'* भाव कि आप पूर्व पूछ चुके ही हैं जब सेना समुद्रके उत्तर तटपर आयी थी और हमने अपना सम्मत भी कह दिया। यथा—*'बैठेउ सभा खबरि अश पाई। सिंधु पार सेना सब आई॥ बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥ जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं॥'* (सुं० ३७)

मन्त्री ऐसा क्यों कह रहे हैं? इसका उत्तर कवि स्वयं सुन्दरकाण्डमें दे चुके हैं कि—*'सचिव बैद गुर तीनि जो प्रिय बोलहिं भय आस। राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगि ही नास॥'* *'सोइ रावन कहुँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥'* (५। ३७; ३८। १)

अर्थात् उसका नाशकाल आ गया है, वह किसीकी अच्छी सलाह मानता ही नहीं और जो उचित नीति कहते हैं उनको मारनेपर उद्यत होता है, इस प्रकार वह स्वयं अपने नाशका उपाय कर रहा है। ये भी विनाशके उपायोंमें ठकुरसोहाती कहकर उसके सहायक हो रहे हैं। भयके कारण उचित न कहकर प्रिय बोल रहे हैं, क्योंकि भाई विभीषण, वृद्ध मन्त्री तथा नाना माल्यवान् तथा शुकसारनके साथ जो बरताव हुआ वह आँखों देख चुके हैं। यथा—

१ *'रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥'* (सुं० ४०। ३)

२ *'सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती। अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा॥'* (५। ४१। ५-६)

३ *'जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥'* (सुं० ५७। ८)

उचित मन्त्र कहनेपर पुत्र और नानाको कठोर वचन कहे हैं—

४ *'ताके बचन बान सम लागे। करिआ मुख करि जाहि अभागे॥*
बूढ़ भएसि नतु मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही॥' (लं० ४८ माल्यवान्प्रति)

५ *'असि मति सठ केहि तोहि सिखाई॥ अब ही ते उर संसय होई। बेनु मूल सुत भयउ घमोई॥ सुनि पितु गिरा परुष अति घोरा।'* (प्रहस्त; १०। २-४)

नोट—३ *'कहहु कवन भय करिअ बिचारा।'* भाव कि भय हो तो विचार करनेकी बात है; जब भय है ही नहीं तब विचार क्या करें? देवता और दैत्य जिनसे भय हो सकता था सो उनसे युद्धमें तो कभी मन्त्रविचारकी आवश्यकता ही न हुई तब इस सेनामें कोई योधा हमारे मुकाबिलेका कहाँ है, ये तो सब नर-वानर ही हैं, उन्हें निशिचर नित्य भक्षण किया ही करते हैं, उनसे हृदय शङ्कित होनेकी तो कोई बात ही नहीं है, हम सब जाकर उन्हें तुरत खा लेंगे, सलाह क्या करना है?

दो०—सब के बचन* श्रवन सुनि कह प्रहस्त कर जोरि।
नीति बिरोध न करिअ प्रभु मंत्रिन्ह मति अति थोरि॥ ८॥

अर्थ—सबके वचन कानोंसे सुनकर प्रहस्त हाथ जोड़कर कहने लगा—हे प्रभो! नीति-विरुद्ध (नीतिके

* पाठान्तर—'बचन सबहिं के'—(गौड़जी)।

प्रतिकूल) न कीजिये, मन्त्रियोंमें अत्यन्त कम बुद्धि है (भाव कि इन मन्त्रियोंका कहा न मानिये, ये मन्त्र देने योग्य नहीं हैं।)॥ ८॥

नोट—१ *'कर जोरि'*। बड़ेके आगे विनय करनेके पूर्व हाथ जोड़ना शिष्टाचार है एवं सम्मानार्थ होता है। दूसरे, रावण जिस बातसे चिढ़ता है वही बात उसे उपदेश करना है अतः हाथ जोड़कर विनती की, जिसमें वह सलाह मान ले और रुष्ट न हो। यथा—*'बिनती करौं जोरि करि रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥'* —(हनुमद्वचन; सुं० २२), *'रहसि जोरि कर पति पद लागी। बोली बचन·····'* (सुं० ३१), *'सजल नयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति बिनती मोरी॥'* (मन्दोदरीवचन) तीसरे, अनुचित-क्षमार्थ हाथ जोड़े-क्योंकि यह लड़का है, बापको सलाह देनेको है।

नोट—२-(क) पहिले कहा कि 'नीति-विरोध' न करो, फिर कहा कि मन्त्री अल्पबुद्धि हैं, उनकी बुद्धि अत्यन्त न्यून है। इससे जनाया कि 'अतिथोरी' और 'नीतिविरुद्ध' एक ही बात है। (ख) *'नीति बिरोध न करिय'* अर्थात् इन्होंने जो सलाह दी है वह नीतिशास्त्रके प्रतिकूल है। (ग) *'मति अति थोरि'* का भाव कि मन्त्री बुद्धिमान्, सयाना और नृपहितकारक होना चाहिये जो नीति ही बतावे, यथा—*'नृप हितकारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक्र समाना॥'* (१। १५४। १), *'नृप हित हेतु सिखव नित नीती।'* (१। १५५), *'माल्यवंत अति सचिव सयाना।'* (५। ४०। १), *'रावनु मातु पिता मंत्रीवर। बोला बचन नीति अति पावन॥'* (४७। ५-६) *'नीति बिरोध'* और *'मति अति थोरि'* की व्याखा आगेके वचनोंमें है।

जब इनमें बुद्धि ही नहीं तब इनकी सलाह कब हितकारक हो सकती है? इनकी सलाह हानिकारक है, जैसा आगे कहते हैं—*'सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥'* राजा अपना विनाश कर रहा है और मन्त्री उसे विनाशसे न बचाकर उलटे विनाशमें सहायक हो रहे हैं, इसलिये मतिको तुच्छ कहा। ४७ (५-७) देखिये।

नोट—३ हनुमन्नाटकमें विरूपाक्ष मन्त्रीका इसी प्रकारका कथन है, यथा—'**देव त्वां प्रति संप्रति प्रतिभटप्रोल्लसनं नो मुदे। देवायं प्रतिपद्यते हितमिदं यस्माद्वयं मन्त्रिणः॥**' (९। ९)

अर्थात् इस समय शत्रुपक्षके युद्धार्थ प्रेरणा करना तुम्हारे आनन्दका कारण न होगा। हम मन्त्री हैं इसलिये यह हित कहते हैं।

कहहिं* सचिव सब† ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती‡॥ १॥
बारिधि नाघि एक कपि आवा। तासु चरित मन महुँ सबु गावा॥ २॥

शब्दार्थ—**ठकुरसोहाती**=जो स्वामीको अच्छा लगे, स्वामीको प्रसन्न करनेवाली बात, लल्लोचप्पो; मुँहदेखी। **पूर आव**=पूरा पड़ना। यह मुहावरा है अर्थात् काम बनना, कार्य सम्पन्न होना। **मन महुँ**=मन-ही-मन। **चरित**=करनी, लीला।

अर्थ—ये सब मन्त्री मुँहदेखी बात कह रहे हैं। हे नाथ! (काम पड़नेपर) इस तरह (अर्थात् इन बातोंसे) पूरा न पड़ेगा॥ १॥ एक बंदर समुद्र लाँघकर आया था। उसका चरित सब लोग अब भी मन-ही-मन गाया करते हैं॥ २॥

नोट—१(क) 'ठकुरसोहाती-मतसे' सबका नाश है। कैसे जाना? यह आगे प्रमाणसे सिद्ध करता है। पाण्डेयजी लिखते हैं कि 'ठकुरसोहाती' पद देकर रावणकी भी बुद्धिको अति तुच्छ जनाया। क्योंकि मन्त्री जो कहते हैं वह इसीका मत है। 'ठकुरसोहाती' का प्रमाण देता है कि 'बारिधि····'। अर्थात् सब रोते हैं पर डरके मारे प्रकट नहीं करते। (ख) *'नाथ न पूर आव एहि भाँती।'* इति। मुँहदेखी, श्रवणसुखद सलाह स्वामीको रुचिकर अवश्य है, पर यह मत आगे दुःख और हानि पहुँचानेवाला है। इस मन्त्रसे जब आप दुःख-समुद्रमें पड़ेंगे तब ये आपको उससे निकालनेको समर्थ न होंगे। मारीचके, *'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि*

* 'कहहि' † सठ (भा० दा०)। ‡ 'भाती' (का०)

बिरोधि न आइहि पूरा॥' (अ० २५। ८), इन वचनोंसे मिलान कीजिये। इसपर यदि रावण कहे कि मन्त्रियोंने तो सत्य ही कहा कि नर-वानर हमारे आहार हैं, तो उसपर कहता है कि *'बारिधि नाँघि'*।

नोट—२ *'एक कपि आवा'*। भाव कि तब तो एक कपि अकेला आया था और अब तो उसके समान बली वानरोंकी सेना-की-सेना आ गयी है; एकने जो कर्म किये उसको आज भी सब याद करते हैं तो इतनी सेनाके आनेपर तो न जाने क्या होगा!

'कपि' सबसे छोटा शब्द देकर जनाया कि वह तो सबमें छोटा था और अब तो उससे अधिक बलवानोंकी पलटन आयी है, यथा—*'जेहि पुर दहेउ बधेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥'* (सुं० ५४)

'तासु चरित सब मन महुँ गावा'। (क) सब दीपदेहरी है— सब चरित और सब गावा। (ख) *'सब चरित'* अर्थात् समुद्रलङ्घन, अशोकवाटिका, बाग और वनका विध्वंस, अक्षयकुमार और योद्धाओंका वध, रावणसे निःशंकता तथा लङ्कादहन और उसको दण्ड देनेमें रावणकी असमर्थता इत्यादि। (ग) भाव कि एक बंदर आया उसका यह तमाशा देखा, यह तो एक वानरका चरित हुआ। अब जिसे सब 'नर' कहते हैं उसको सुनो कि कैसा है। (घ) *'सब मन महुँ गावा'* । 'सब' का भाव कि कोई निशिचर एवं कोई घर ऐसा नहीं जो इसकी चर्चा न करता हो। भुलानेसे भी नहीं भूलता। यथा—*'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जबतें जारि गयउ कपि लंका॥ निज निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥ जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई॥'* (५। ३६) (ङ) मनमें ही कहते हैं, रावणके डरके मारे नहीं कह सकते। पुनः, भाव कि जैसी दशा (गति) उसने की वह सबका मन ही जानता है। कवितावलीके निम्न कवित्तोंमें यह दशा खूब वर्णित है—

'लंकदाहु देखे न उछाहु रह्यो काहुन को। कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपि हैं।
बाचिहै न पाछे त्रिपुरारिहू मुरारिहू के। को है रन रारि को जौं कौसलेस कोपिहैं॥'(क०लं०१)
समुझि तुलसीस कपिकर्म घर घर घैरु। बिकल सुनि सकल पाथोधि बाँध्यो॥
बसत गढ़ लंक लंकेस नायक अछत। लंक नहि खात कोउ भात राँध्यो॥'(क०लं०४)

कथनका आशय यह है कि यह तो एक लघु दूत ही था, जब उसी एकसे किसीकी न चली तब भला उसके स्वामीको क्या जीतोगे? ऐसा ही आगे मन्दोदरीने भी कहा है, यथा—*'पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा॥ कौतुक सिंधु नाँघि तव लंका। आयउ कपि केसरी असंका॥ रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ जेहि मारा॥'* (३५। ३-५)

रा० प्र०—'मन महुँ गावा' का भाव कि परस्पर एक-दूसरेसे तो कहते हैं, पर आपसे नहीं कहते; ये सब बड़े धूर्त हैं, इनका विश्वास न कीजिये।

छुधा न रही तुम्हहि तब काहू। जारत नगर कस न धरि खाहू॥ ३॥

अर्थ—तुममेंसे किसीको तब भूख न थी? नगर जलाते समय उसे पकड़कर क्यों न खा लिया?॥ ३॥

पं०—रावणसे बात करते हुए प्रहस्त यह वचन मन्त्रियोंकी ओर दृष्टि करके कह रहा है। भाव यह कि जो मन्त्री कहते हैं कि नर-वानर हमारे आहार हैं, उनसे मेरा यह प्रश्न है कि क्या नगर जलाते समय भूख न थी कि उसे तुम खा लेते जिससे नगर बच जाता?

नोट—१ मन्त्रियोंकी ओर मुँह करके कह रहा है पर तात्पर्य रावणको ही सुनाने और उसकी चुटकी लेनेका है कि एक अकेले वानरका आप और आपके वीरसमूह बाल बाँका न कर सके तो अब सेनाका क्या कर लोगे? जो मन्त्रियोंने कहा था कि 'कौन भय है, वानर हमारे आहार हैं', सो एक वानरसे ही सबका बलाबल देख लिया गया।

नोट—२ *'जारत नगर'* से जनाया कि वह चोरीसे या छिपकर नहीं रहा, वरन् सबको ललकारकर उसने सबके देखते ये सब चरित किये। मन्दोदरी-वाक्यसे मिलान कीजिये—*'जारि सकल पुर कीन्हेसि*

छारा। कहाँ रहा बलगर्ब तुम्हारा॥'(३५। ६) पुनः, इसमें यह भी ध्वनि है कि जिसकी गतिको पहिले तुम न रोक सके; वह अब फिर आ गया है, अब उसकी गति कैसे रोक सकनेको समर्थ हो गये? यथा—'*देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा। तासु पंथ को रोकनिहारा*'॥—(कालनेमिवचन)

सब चरितोंमेंसे 'लङ्कादहन' सभीने कहा है। सबने इसीको अत्यन्त दुर्गम कार्य माना है। वाल्मी० २८। ११-१६ में सारनने रावणसे जो कहा है कि 'जिस वीरने आपके प्रतापसे रोकी हुई अग्निको प्रज्वलित करके उसे लंकामें ही छोड़ा था, भला फिर आप किस कारण उस वीरको भूलते हैं? वह सब भाव भी इस चौपाईके शब्दोंसे ध्वनित होता है।

सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥ ४॥

अर्थ—इन मन्त्रियोंने प्रभु (आप) को वह मन्त्र (सलाह) सुनाया है जो सुननेमें तो अच्छा है, परंतु आगे चलकर जिससे दुःख प्राप्त होगा॥ ४॥

नोट—यहाँतक '*बानर भालु अहार हमारा*' के विषयमें कहा। आगे '*नर*' के सम्बन्धमें बताता है कि वह कैसा है जिसे तुम '*नर*' और '*अहार हमारा*' कह रहे हो।

हनुमन्नाटकमें महोदर मन्त्रीका रावणको नीतिका जो उपदेश है वह मिलान करने योग्य है—'**राजन् मुखसुखा वाचो मधुराः कस्य न प्रियाः। तव क्षोदक्षमाः किं तु नैता व्यसनसंगमे॥ प्रिया वा मधुरा वाक् च हर्म्येष्वेव विराजते। श्रीरक्षणे प्रमाणं तु वाचः सुनयकर्कशाः॥ यैरेव स्तुतिभिः स्वामी प्राप्यते व्यसनाटवीम्। पश्चान्मूकत्वमापन्नैरुद्धर्तुं शक्यते कथम्॥**' (९। १४-१५, १८)

अर्थात् हे राजन्! मुखको सुख देनेवाली मधुर वाणी किसे प्रिय नहीं लगती? पर दुःख प्राप्त होनेपर ये मधुर वचन आपके दुःखके सहन करनेवाले न होंगे। प्यारी वा मधुरवाणी महलोंमें ही शोभित होती है, पर श्रीकी रक्षाके लिये तो सुन्दर नीति-संयुक्त और कठोर वाणियाँ ही प्रमाण हैं। जिन स्तुति करनेवाले मन्त्रियोंके उपदेशसे राजा दुःखरूपी वनमें प्रवेश करते हैं, फिर पीछेसे उन्हीं मौनको प्राप्त मन्त्रियोंद्वारा वह स्वामी निकलनेको क्योंकर समर्थ हो सकता है?

जेहिं* बारीस बँधाएउ हेला। उतरेउ सेन समेत सुबेला†॥ ५॥
सो भनु मनुज खाब हम भाई। बचन कहहिं सब गाल फुलाई॥ ६॥

शब्दार्थ—**हेला**=खेल, खेलवाड़, सहज ही, लीलापूर्वक। **भनु**-'भणन्'(=कथन) से बना है और भणन् भी 'वर्णन' से बना है। **भनु**=कहो। यथा—'*सुकबि लखन मन की गति भनई।*' (२। २४०। ५) वि० त्रि० जी '*सो भनु*' को एक शब्द 'शोभनु'(=सुन्दर) मानते हैं। गाल फुलाना=गर्वसूचक आकृति बनाना, अभिमान और गम्भीरता दिखाना, डींग मारना।

अर्थ—जिसने खेल-ही-खेलमें समुद्र बँधा लिया और जो सेनासहित सुबेल पर्वतपर आकर उतर गये॥ ५॥ कहो वह मनुष्य है? हे भाइयो! हम उसे खायँगे? सब मन्त्री गाल फुला-फुलाकर डींगके वचन कह रहे हैं॥ ६॥

नोट—१ '*जेहिं बारीस*''''*सुबेला*' इति। (क) समुद्रका बाँधना अर्थात् उसपर सेतु बनाना असम्भव कार्य था, यह तो सेतुबन्धन सुनकर रावणके घबड़ानेसे ही स्पष्ट है। यथा—'*सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥ बाँध्यो बननिधि नीरनीधि*''''*।*' (५) पर यहाँ सुबेलपर उतरनेको भी दुष्कर कार्य कहा है। कहा जाता है कि इस पर्वतपर रावणकी तरफसे कालका पहरा रहता था, क्योंकि त्रिकूटाचलके जिस शिखरपर लङ्का बसी है उसकी अपेक्षा यह शिखर बहुत ऊँचा है। शत्रुका इसपर दखल हो जानेसे उसे लङ्काको जीतनेमें सुविधा होगी। इसीसे रावणने उसपर कालको नियुक्त कर दिया कि वहाँ कोई न आ सके और आ जाय तो काल उसे खा जाय।—'*उतरेउ सुबेला*' कहकर जनाया कि वे कालके भी काल हैं, काल उनको देखकर ही भाग गया। (ख) यहाँ '*सुबेला*' शब्दमें 'श्लेष' अलंकार है। इससे

* 'जेहि। † 'उतरेउ'—(का०), उतरे—(भा० दा०)। 'प्रभु दल सहित' पाठान्तर है।

कवि—इच्छित अर्थके अतिरिक्त 'अच्छे मुहूर्त' का भी अर्थ प्रकट होता है। (रा० प्र०)

नोट—२ '**सो भनु मनुज**'। भाव कि समुद्र-बन्धन आदि परमाद्भुत कार्य हैं ये मनुष्यकी सामर्थ्यसे बाहर हैं; अतएव यह निश्चय है कि ये मनुष्यमात्र नहीं हैं, यथा—'**न हि मानुषमात्रोऽसौ राघवो दृढविक्रमः॥ येन बद्धः समुद्रे च सेतुः स परमाद्भुतः।**' (वाल्मी० ३५; माल्यवान्-वचन रावणप्रति।) पुनः भाव यह भी है कि तुम ऐसा कहते हो। पर वे मनुष्य हैं नहीं।

पु० रा० कु०—'***कहहिं सब गाल फुलाई***'। भाव कि गाल फुला-फुलाकर कहते हो तो गाल फुलाना ही रहेगा, खा नहीं सकते हो। यह केवल अभिमानी बोल है, यथार्थ नहीं है।

वि० त्रि०—'***सो भनु*****'। '***भनु***' का अर्थ 'कहते हो' नहीं हो सकता, और न ऐसा प्रयोग मानसमें कहीं देखा जाता है, 'शोभन' संस्कृतका शब्द है, उसका अर्थ है 'सुन्दर' 'सोभनु' उसीका तद्भवरूप है, और अर्थ भी बैठ जाता है। रावणको दिलासा देने और प्रसन्न करनेके लिये, वे एक-दूसरेसे कहते हैं कि उस सुन्दर मनुष्यको हम खा जायँगे' अर्थात् एक तो खाद्य स्वादु है और देखनेमें सुन्दर है (मनुष्यके मांसमें अन्य मांसोंसे अधिक स्वाद होता है, यथा खल मनुजाद द्विजामिष भोगी), अतः उस सुन्दर मनुष्यको कहीं तुम न खा जाना, खानेके लिये बंदर-भालुओंका घाटा नहीं है। मौका आ जानेपर भी उसे मेरे लिये छोड़ देना।

'***भनु***' को पृथक् मान लेनेसे वह निरर्थक हो जाता है—'***सो मनुज खाब हम भाई। बचन कहहिं सब गाल फुलाई॥***' इतना लिखना ही यथेष्ट था, '***भनु***' लिखनेका प्रयोजन क्या था?'

तात बचन मम सुनु अति आदर। जनि मनु गुनहु मोहि करि कादर॥७॥
प्रिय बानी जे सुनहिं* जे कहहीं। अइसे† नर निकाय जग अहहीं॥८॥
बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं‡ जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे॥९॥

शब्दार्थ—कादर=डरपोक। **निकाय**=बहुत।

अर्थ—हे तात! मेरे वचन अत्यन्त आदरसे सुनिये। मुझे मनमें कायर न समझियेगा॥ ७॥ संसारमें ऐसे मनुष्य बहुत हैं जो प्रिय वाणी सुनते हैं और कहते हैं॥ ८॥ हे प्रभो! सुननेमें कठोर परन्तु परिणाममें अत्यन्त हितकारी वचन जो सुनते हैं और जो कहते हैं वे (अर्थात् सुनने और कहनेवाले) मनुष्य कम हैं॥ ९॥

नोट—१ '***तात बचन*****' इति। 'तात' प्यारका सम्बोधन है और 'पिता' भी इसका अर्थ है। '***सुनु अति आदर***' अर्थात् चित्त देकर वचन सुनिये और मानिये, उसकी उपेक्षा न कीजिये। यथा—'***तात सुनहु सादर अति प्रीती।***'(७। १२१) (रा० प्र०) '***जनि मन गुनहु मोहि करि कादर***' इति। भाव कि मैं यथार्थ कहता हूँ, इसलिये मेरी सलाह मानिये। (पु० रा० कु०)

नोट—२ प्रहस्त यहाँ कहता है कि उस सलाहसे, जो मैं देनेवाला हूँ, यह न समझ लीजियेगा कि मैं कादर हूँ। ऐसे क्यों कहा? क्योंकि ऐसा समझनेका मौका है? एक तो यह कि कहीं प्राणोंके डरसे न कहता हो; यही रावणने समझा भी है, यथा—'***अबही ते उर संसय होई***'। दूसरे, प्रहस्त देख चुका है कि रावणने अपने भाई विभीषणको कादर कहा ही है, यथा—'***सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥***'(सुं० ५६। ५), '***सचिव सभीत बिभीषन जाके। बिजय बिभूति कहाँ जग ताके॥***' (सुं० ५६) और '***अनुज हमार भीरु अति सोऊ***' [(लं० २३)—ये वचन अङ्गदसे कहेगा] वही सलाह मैं भी देनेवाला हूँ तब मुझे भी कादर अवश्य ही समझेगा। उसपर भी विभीषणजी तो बड़े हैं और मैं छोटा लड़का हूँ। अतएव यह प्रथम ही प्रार्थना कर रहा है कि मेरे वचनोंकी अवहेलना न कीजियेगा।

पुनः, दूसरा भाव '***जनि मन गुनहु करि कादर***' का यह है कि आप यह भी निश्चय जानिये कि यदि आप मेरी सलाह मानेंगे तो मैं आपके साथ हूँ ही और यदि आप मेरी सलाह न भी मानेंगे तो भी मैं आपका पुत्र और सेवक ही रहूँगा, विपत्ति आनेके विचारसे साथ न छोड़ूँगा, वरन् जो आज्ञा होगी

* सुनहि। † ऐसे—(गौड़जी)। ‡ सुनहि जे कहहि (का०)।

उसका पालन करूँगा। हनुमन्नाटकमें महोदर और विरूपाक्षके ऐसे ही वचन हैं, यथा—'**आवामामुष्मिकौ राजन् विरूपाक्षमहोदरौ। मैथिली दीयतां तूर्णं नो चेत्सहचरौ तव॥**' (हनु० ९। २९) अर्थात् विरूपाक्ष और महोदर हम दोनों परलोकमें सुख देनेवाले हैं। आप मैथिलीको शीघ्र दे दीजिये; नहीं तो भी हम दोनों आपके अनुचर हैं ही।

नोट—३ *'प्रिय बानी जे सुनहिं सुनत कठोरे।'* इति। (क) प्रथम कहा कि *'प्रिय बानी जे सुनहिं'* और दूसरी अर्धालीमें कहते हैं कि—*'बचन परम हित सुनत कठोरे।'*; इससे 'कठोर' का अर्थ 'सुननेमें अप्रिय, श्रवणको अरुचिकर' जनाया। पुनः, सूचित किया कि वह वाणी सुननेमें प्रिय है पर हितकारी नहीं है और यह सुननेमें अप्रिय है पर परम हितकर है। इन वचनोंमें आशय यह है कि मन्त्रियोंने जो कहा वह विपत्ति लानेवाला है और जो मैं कहूँगा उससे आपका परम हित होगा, यद्यपि मेरे वचन कड़वे लगेंगे। वाल्मीकीयमें मारीच और विभीषणने रावणसे यही बात कही है, यथा—'**सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥**' (१६। २१) अर्थात् हे राजन्! प्रिय (मीठी बात ठकुरसोहाती) कहनेवाले बहुत मिलते हैं पर श्रवणको अप्रिय और परिणाममें हितकारक ऐसे वचन कहने और सुननेवाले दुर्लभ हैं। [दोनोंके ये वचन हैं। मारीचने 'भोक्ता', विभीषणने 'श्रोता' कहा है। इतना ही भेद है। (वाल्मी० ३। ३७। २)]

प्रथम बसीठ पठउ* सुनु नीति। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥१०॥

शब्दार्थ—बसीठ—(सं० अवसृष्ट=भेजा हुआ)=दूत।

अर्थ—नीति सुनिये। पहिले दूत भेजिये और फिर सीता देकर प्रीति (मेल) कर लीजिये॥ १०॥

नोट—यहाँ नीतिमें तीन बातें क्रममें बतायीं—१ दूत भेजा जाय। २ श्रीसीताजी दी जायँ। और ३ मेल कर लिया जाय। क्रमका भाव कि पहिले केवल दूत जाय, वह शत्रुसे जाकर मौका देखकर संधिकी बात निश्चित कर ले। यदि वे श्रीजानकीजीको पाकर शत्रुता छोड़ने और लौटनेको स्वीकार करें तो सीताजीको दे दो। स्त्री पाकर शत्रुता दूर हुई तब आगेके लिये उनसे संधि कर लो कि तुम्हें काम पड़े तो वे और उन्हें काम पड़े तो तुम सहायता करो।

रा० प्र०—नीतिका प्रथम चरण 'साम' है। दूत भेजकर संधिकी बात साम है। दूसरा चरण दाम है सो यहाँ 'सीता देइ' यह दाननीति हुई। 'पुनि प्रीति करो' अर्थात् श्रीसीताजीको अपनी स्वामिनी मानकर स्तुति कर प्रसन्न करोगे तो वे अपराध क्षमा करा देंगी, यह सूचित किया। इस तरह विभेद नीति भी आ गयी।

पं०—*'करहु पुनि प्रीती'।* भाव कि आप मिलकर प्रीति करें, यह कहकर कि आपसे शूर्पणखाकी अवज्ञा हुई और हमसे श्रीसीताजीकी, अब दोनों ओरसे एक दूसरेको क्षमा करें और सुहृद् हो जायँ।

दो०—नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइअ रारि।
नाहिं त सनमुख समर महि तात करिअ हठि मारि॥ ९॥

शब्दार्थ—रारि=(रार) झगड़ा-टंटा। **समर महि**=रणभूमि। **मारि**=लड़ाई, मारपीट। **हठि**=प्रतिज्ञापूर्वक, किसीका कहा न मानकर। शत्रुपर पीछेसे आक्रमण करनेको भी 'हठ' कहते हैं।

अर्थ—यदि स्त्री पाकर वे लौट जायँ तो झगड़ा-टंटा न बढ़ाइये, नहीं तो, हे तात! संग्रामभूमिमें हठपूर्वक उनसे सम्मुख मार-काट कीजिये॥ ९॥

पं०-भाव यह कि श्रीसीताजीको पा जानेपर यदि वे न लौट जायँ और लङ्काके राज्यकी इच्छा करें तो ऐसी मार करिये कि वह भी जन्मभर याद रखें कि किसीसे पाला पड़ा था। पुनः भाव कि नीतिमें दण्ड अन्तिम उपाय है, आप इस नीतिको अन्तमें बरतिये। यहाँ उक्ताक्षेप अलङ्कार है।

* 'पठव' पाठान्तर है।

यह मत जौं मानहु प्रभु मोरा। उभय प्रकार सुजसु जग तोरा॥ १॥

अर्थ—प्रभो! यदि आप मेरी यह सलाह मानें तो दोनों ही प्रकारसे संसारमें आपका सुयश ही होगा॥ १॥

टिप्पणी—१ *'उभय प्रकार'* अर्थात् साम या दण्ड दोनोंमें आपका ही यश होगा, उनका अपयश होगा। साम अर्थात् श्रीसीताजीको देकर मिलनेमें भी यश और दण्ड अर्थात् पीछे लड़नेमें भी यश।

नोट— १ देनेमें यश इस तरह कि शत्रुने अपना दूत भेजा था और विनय की कि स्त्री लौटा दो, यथा—*'मोरे कहे जानकी दीजे।'* (हनुमद्वाक्य सुं २२। १०) फिर उनके भाईने भी संधिका संदेशा भेजा था, यथा—*'कहेहु मुखसागर मूढ़ सन मम संदेस उदारा। सीता देइ मिलहु॥'* (सुं० ५२) तीसरे नीतिमें भी 'साम' नीति प्रथम है और शत्रुकी ओरसे ही प्रथम संधिका संदेश आया। अतः देकर संधि कर लो।

पं०—देनेमें यश यों कि लोग कहेंगे कि शूर्पणखाका अपमान हुआ था, उसके कारण सीताहरण किया था और यह समझकर कि परस्त्रीका छलसे हरण करना अयोग्य था एवं परदारामें उसका किंचित् लोभ न था, उसने सीताको दे दिया।

पं०—लड़नेमें यश इस तरह कि शत्रुताका मुख्य कारण सीताहरण था, सीता लौटा दी गयीं तब कोई कारण युद्धका न रह गया था, पर इन्होंने स्त्री मिलनेपर भी उसका राज्य भी छीनना चाहा तब वह बेचारा न लड़ता तो करता ही क्या? अपनी और अपने राज्यकी रक्षाके लिये उसे बरबस लड़ना पड़ा। जीते तो अच्छा और न भी जीते तो भी लोक उन्हींको दोष देगा, हमको नहीं।

मा० म०—प्रहस्तके वचनोंका तात्पर्य यह है कि प्रथम श्रीजानकीजीको भेज दो; यदि श्रीरामचन्द्र ग्रहण न करें और युद्ध करना चाहें तो युद्ध करो। उस युद्धमें यदि हारोगे तो लोग तुम्हारा यश ही बखान करेंगे और कहेंगे कि रावण श्रीरामचन्द्रको उनकी स्त्री देता था परंतु उन्होंने नहीं लिया, तब बेचारा युद्धमें प्रवृत्त हुआ, इसके अतिरिक्त और क्या करता? यदि जीतोगे तो श्रीरामचन्द्रहीको सब लोग कहेंगे कि जब रावण जानकीजीको देता था तब उन्होंने न लिया और युद्धमें प्रवृत्त हुए, परिणाम यह हुआ कि जानकी भी न मिलीं और प्राण भी गये।

नोट—२ परस्त्रीके त्याग करनेवाले सुयशके भागी होते ही हैं, यथा—*'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजहु……॥'* (सुं० ३८)

सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहिं तोहि सिखाई॥ २॥
अबहीं ते उर संसय होई। बेनु मूल सुत भएहु घमोई॥ ३॥

अर्थ—दशग्रीव क्रोधित होकर* पुत्रसे कहने लगा कि अरे शठ! तुझे ऐसी बुद्धि किसने सिखायी?॥ २॥ अभीसे मनमें संदेह होने लगा है। रे सुत! तू तो बाँसकी जड़में घमोई उत्पन्न हुआ है॥ ३॥

नोट—*'असि मति सठ केहिं तोहि सिखाई'* इति। (क)—नीति कही और सीताजीको देनेको कहा; अतः 'सठ' कहा, जैसे—*'सीता देहु राम कहँ अहित न होइ तुम्हार',* विभीषणके इस वाक्यपर रावणने कहा था कि *'जियसि सदा सठ मोर जिआवा', 'सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती'।* वैसे ही यहाँ प्रहस्तके *'सीता देइ करहु पुनि प्रीती'* पर उसे 'सठ' कहा। माल्यवान्‌ने विभीषणकी नीतिका समर्थन किया था इसलिये उसे भी 'सठ' कहा, यथा—*'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ॥'* (सुं० ४०)

(ख)—किसने सिखाया? ध्वनि यह है कि विभीषण और माल्यवान् ये दोनों शत्रुपक्षकी कहनेवाले थे, इन्हींने सिखाया होगा। यथा—*'रिपु कर पच्छ सदा तोहि भावा'* एवं *'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ'।* अथवा, माने सिखाया होगा।

पं०—भाव कि तेरी माता मन्दोदरीने अपने वाक्यकी प्रतिष्ठाहेतु तुझे यह शिक्षा दी होगी (कि जाकर सभामें यही सलाह देना), अथवा माल्यवान् विभीषणादिने कुटुम्बमें भेद करानेके निमित्त यह मत सिखाया होगा।

☞ प्रहस्त, मन्दोदरी, विभीषणका मिलान—

---

* यहाँ 'तृतीय विषम' अलङ्कार है। उपाय किया हितका और फल हुआ 'क्रोध'।

प्रहस्त	मन्दोदरी	विभीषण
'तात बचन मम सुनु अति आदर'	*१ मोर कहा अति हित हिय धरहू*	*मति अनुरूप कहउँ*
'बचन परमहित सुनत कठोरे'		*हित ताता*
'बारिधि नाँघि एक कपि आवा *तासु चरित सब मन महँ गावा'*	*२ समुझत जासु दूत कै करनी* *स्त्रवहिं गर्भ रजनीचर धरनी॥*	
'प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती *सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥'*	*३ 'तासु नारि निज सचिव बोलाई।* *'पठवहु'-(सुं०)। रामहि सौंपि....'*	*'सीता देहु राम कहँ....'*
'सुनत नीक आगे दुख पावा। *सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥'*	४	*जहाँ कुमति* *तहँ बिपति निदाना*
'सुजसु प्रभु तोरा'	*५ जो पिय मानहु मोर सिखावन।* *होइ सुजसु तिहुँ पुर अतिपावन॥*	*'जो आपन* *चाहइ कल्याना।....'*
जेहि बारीस बँधाएउ हेला। *सो भनु मनुज०*	*६ तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा।* *खलु खद्योत दिनकरहि जैसा॥*	*तात राम नहिं* *नर भूपाला*
	बेनुमूल सुत भएउ घमोई	

'घमोई' के अनेक अर्थ मिलते हैं? १-गौड़जी लिखते हैं कि 'घमोई' कटंगी बाँसका एक प्रकारका रोग है जिसके पैदा होनेसे उस बाँसमें नये कल्ले नहीं निकलने पाते। इस बाँसकी जड़ोंमें बहुतसे पतले और घने अङ्कुर निकलते हैं जो बाँसकी बाढ़ और नये कल्लोंकी उत्पत्ति रोक देते हैं।

२- 'पंजाबीजी लिखते हैं कि 'घमोई' एक घासका नाम है जो बाँसकी जड़के पास पैदा होती है, उसका आकार लघु होता है परंतु वह बाँसके वृक्षको नष्ट कर देती है।

३- किसी टीकाकारका कथन है कि 'घमोई' नामका एक कल्ला बाँसमें होता है जो निकलते ही गुड़मुड़ाकर सूखकर रह जाता है।

४- शब्दसागरमें 'घमोय' का अर्थ सत्यानाशी भी किया है, पर 'घमोई' शब्दमें यह अर्थ नहीं दिया है।

बाबा हरिहरप्रसादजीने रा० प्र० में 'घमोय रोग' अर्थ किया है। वे लिखते हैं कि बाँसकी जड़में वंशनाशक यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

गोसाईंजी इस शब्दका प्रयोग गीतावलीके सुन्दरकाण्डमें भी किया है, यथा—*'बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ।.... देवि बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ। कहौंगो मुखकी समर सरि कालि कारिख धोइ॥ करत कछु न बनत हरि हिय हरष सोक समोइ। कहत मन तुलसीस लङ्का करउँ सघन घमोइ॥'* (५)

बाबा हरिहरप्रसादजीने वहाँ उसका अर्थ 'कटीला, सत्यनाशी और भड़भड़ा'। किया है। बैसवाड़ा प्रदेशमें इसे कड़ुवा कहते हैं। रामायणी रामबालकदासजी कहते हैं कि बाँसके मूलमें घासके पास ही यह भी जम जाता है पर यह बहुत तुच्छ और कोमल होता है, छड़ी मार देनेसे ही कट जाता है।

सत्यानाशी पौधेका सम्बन्ध बाँससे कोई नहीं जान पड़ता। यदि 'घमोई' का अर्थ सत्यानाशी, कटीला आदि लें, तो यहाँ ***'बेनमूलमें घमोई'*** हुआ, इसका भाव यह होगा कि—हमारे पुत्र होकर तुझे वीरोंके समान वचन कहना चाहिये था पर तू हमारे वंशके अनुहरित पैदा नहीं हुआ; जैसे कहाँ तो बाँस कैसा कठोर होता है और घमाई कैसी कोमल और नर्म कि छड़ी लगते ही कट जाय। प्रहस्तकी तुच्छता दिखानेके विचारसे उसे घमोई और अपनेको बाँस कहा। (पु० रा० कु०)

अर्थ—३ से भी यही भाव निकलता है। अर्थ २ के अनुसार भाव यह होगा कि तू अभी बालक है, घमोईके समान छोटा है, पर तू इसी अवस्थामें ही कुलका विनाशक उत्पन्न हुआ जान पड़ता है—(पंजाबीजी)। और अर्थ १ के अनुसार भाव यह होगा कि तू हमारे वंशका विनाशक वंशमें रोगरूप उत्पन्न हुआ है जैसे बाँसके मूलमें 'घमोई' रोग उत्पन्न होकर बाँसोंका नाशक होता है।

मा० म०—कार लिखते हैं कि इसका तात्पर्य यह है कि जैसे घमोय न तो बाँससे पैदा होता है और न बाँसका कुछ गुण उसमें रहता है, परन्तु वह बाँसका नाशक है; वैसे ही हमारा कुछ भी गुण तुझमें नहीं है, 'तू मुझमें पैदा नहीं हुआ'[पर रावण उसे स्वयं ही 'सुत' सम्बोधन कर रहा है। (मा० सं०)] तू हमारे कुलका नाश करनेवाला है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि—

—जनश्रुति प्रसिद्ध है कि 'बाँसकी जड़में बाँस ही होता है।' दूसरा पौदा उग नहीं सकता। 'घमोय' एक कंटीला पौदा है, जो खंडहरोंमें पैदा होता है, उसका फूल पीला होता है। बनारसमें उसे भँड़भाँड़ कहते हैं। यह बड़ा नाजुक होता है, दबाते ही टूट जाता है। यदि वह बाँसके पास उगे भी तो वह बाँसका कल्ला नहीं है। कहींसे भँड़भाँड़का बीज छिटककर वहाँकी मिट्टीपर पड़ गया, उसीसे पौदा उग आया। कहनेका भाव यह है कि 'तू मेरे वीर्यसे उत्पन्न नहीं है' इसलिये ऐसा कहता है।

यहाँपर लाचार होकर यही अर्थ करना पड़ेगा, नहीं तो *'सुनि पितु गिरा परुष अति घोरा'* का अर्थ नहीं लगेगा।

नोट—*'अबहीं ते उर संसय होई'।* भाव कि अभी तो युद्धका आरम्भ भी नहीं हुआ। जब अभीसे ऐसे वचन कहता है तब आगे क्या खाके लड़ेगा। तात्पर्य यह है कि तू कादर है कि बिना युद्ध हुए ही, बिना शत्रुबलके देखे पहलेसे ही ऐसा डरने लगा कि शूरोंके लिये उपहास योग्य वचन मेरे सम्मुख कह रहा है।

सुनि पितुगिरा परुष अति घोरा। चला भवन कहि बचन कठोरा॥ ४॥
हित मत तोहि न लागत कैसें। काल बिबस कहुँ भेषज जैसें*॥ ५॥

अर्थ—पिताकी अत्यन्त कठोर और कड़ी वाणी सुनकर वह यह कठोर वचन कहकर घर चला गया॥ ४॥ तुझपर भलाईकी सलाह उसी तरह असर नहीं करती वा लगती जैसे मरनेवाले रोगीको दवा नहीं लगती॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'परुष अति घोरा ……'।* इति। *'असि मति सठ केहि तोहि सिखाई'* यह परुष है; *'अबहिं ते उर संसय होई।'* अर्थात् कादर है, यह 'घोर' है, *'बेनुमूल सुत भएउ घमोई'* यह घोर और अति परुष दोनों है।

'चला भवन' जिसमें फिर कुछ न कहे। जैसे सुन्दरकाण्डमें *'दूरि न करहु इहाँ है कोऊ'* यह सुनते ही *'माल्यवंत गृह गयउ (बहोरी)'*—(सुं ४०); दूसरी बार फिर जब सलाह पूछनेपर माल्यवान्‌ने वैदेहीको लौटा देनेको कहा तब रावणने कठोर वचन कहे कि *'करिआ मुह करि जाहि अभागे। …… ' इत्यादि।* जिन्हें सुनकर *'सो उठि गयउ कहत दुर्बादा।'* (लं० ४८) वैसे ही प्रहस्त *'चला भवन कहि बचन कठोरा।'* क्या वचन कहे यह कवि स्वयं आगे कहते हैं—*'हितमत…'*† नं० (पु० रा० कु०)

काल बिबस कहुँ भेषज जैसें

काल जिसको दबा लेता है उसको हित करनेवाली ओषधि भी लाभ या हित नहीं करती, अथवा नहीं लगती। इसी प्रकार मैंने परम हितके वचन कहे कि जिसमें आपका विनाश न हो पर आप उन्हें नहीं मानते। यहाँ परमहितकी अच्छी सलाह हित ओषध है; मान लेना उसका असर है। यहाँ ओषधिका प्रयोग होता है, वह दी जा रही है; पर उसका असर नहीं होता। और रावण सलाह सुनता है, पर नहीं मानता; क्योंकि वह कालवश है। यह दोनोंमें समता है। विभीषण और मारीचके इसी प्रकारके वचन वाल्मीकीयमें

---

* कैसे जैसें—(का०)।

† मा० म०—प्रहस्तने कहा कि तुमने जो कहा वह तुम्हारे ही देशमें है अर्थात् तुम्हीं अपने पितासे नहीं पैदा हुए क्योंकि वह मुनि हैं और तपमें रत रहते हैं और तुम राक्षस हो, पापमें रत रहते हो; ऐसी दशा हमारी नहीं है क्योंकि जैसे राक्षस तुम, वैसे हम, जैसी करनी तुम करते हो वैसी हम भी करते हैं

है, यथा—**'सुनीतं हितकामेन वाक्यमुक्तं दशानन। न गृह्णन्त्यकृतात्मानः कालस्य वशमागताः॥'** (६। १६। २०), **'स च न प्रतिजग्राह रावणः कालचोदितः। उच्यमानं हितं वाक्यं विपरीत इवौषधम्॥'** (६। १७। १५), **'मारीचस्य तु तद्वाक्यं क्षमं युक्तं च रावणः। उक्तो न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम्॥'** (३। ४०। १)

अर्थात् हे दशानन! मैंने हितकी कामनासे सुन्दर नीतियुक्त वचन कहे, पर कालके वशमें प्राप्त और अकृतात्मा होनेसे तुमने उनको न ग्रहण किया अर्थात् न माना। विभीषणजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं कि यद्यपि मैंने उसके हितकी बात कही थी तथापि उस कालप्रेरित रावणने मेरे वचन न माने जैसे कालविवश मनुष्य ओषधि सेवन नहीं करता। मारीचके उचित एवं मानने योग्य वचन रावणने ग्रहण न किये जैसे मरनेवाला मनुष्य ओषधि ग्रहण नहीं करता।

'दवा लगना' मुहावरा है। दवा जब असर नहीं करती तब कहते हैं कि दवा नहीं लगती। यहाँ 'लागत' शब्द देकर यही भाव कविने सूचित किया है।

संध्या समय जानि दससीसा। भवन चलेउ निरखत भुज बीसा॥ ६॥

अर्थ—दशशीश रावण संध्याका समय जानकर अपनी बीसों भुजाओंको देखता हुआ घरको चला॥ ६॥

नोट—१ *'संध्या समय जानि'* इति। इससे जनाया कि सभा सबेरेसे संध्यातक हुआ करती है। संध्यासे फिर अखाड़ा नृत्यगानादिमें जाया करता था। अथवा, आज मन्त्रियोंसे युद्ध किस तरहसे किया जाय इसकी सलाह लेनेमें तथा इस सम्बन्धमें बातचीत करनेमें इतना समय लग गया, संध्या हो गयी और संध्यासे अखाड़े आदिका प्रोग्राम (कार्यविवरण) रहता है अतः संध्या जानकर उसने सभा विसर्जन की।

नोट—२ *'निरखत भुज बीसा'।* इति (ख) बीसों भुजाएँ देखना कहकर निज भुजबलके अभिमानकी अधिकता (अति गर्व) दिखायी। यथा—*'मम भुजसागर बलजल पूरा। जहँ बूड़े अगनित नृप सूरा॥'* (२८। ३) (पु० रा० कु०, पं०) भाव कि इन्हींके बलसे मैंने चराचर जीता है। लोकपालोंको जीतनेवाली इन भुजाओंके सामने नर-वानर क्या हैं, एवं २० भुजावालेका दो भुजावाला क्या कर सकता है? यथा—*'बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा॥'* (२८। ४) (पी०, पं०, रा० प्र०)। बीस भुजाओंके देखनेके सम्बन्धसे ही 'दससीस' नाम लिखा गया। पंजाबीजी लिखते हैं कि बीसों भुजाओंके देखनेका अभिप्राय अति धृष्टता है; जिसमें लोग यह न समझें कि प्रहस्तके वचन सुनकर वा रघुनाथजीका आगमन जानकर भयभीत हो गया है।

(ख) भुजनिरीक्षणमें गर्व और असूया संचारीभावोंकी ध्वनि है कि मैंने इन २० भुजाओंके भरोसे वैर बढ़ाया है, यथा—*'निज भुजबल मैं बयरु बढ़ावा। देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा॥'* (७७। ६) फिर दो भुजावाला प्रहस्त रूठ ही गया तो क्या? दूसरे, अपनी दुर्नीतिसे शङ्का संचारीभावकी ध्वनि है कि मैंने ऐसा विरोध ठाना है कि अब इनके अस्त होनेका समय आ गया। (वीर) (ग) *'दससीसा'* कहकर बीस भुजा निरीक्षणके उल्लेखसे जनाया कि बीसों नेत्रोंसे देख रहा था।

लंका सिखर उपर आगारा। अति बिचित्र तहँ होइ अखारा॥ ७॥
बैठ जाइ तेहि मंदिर रावन। लागे किंनर गुनगन गावन॥ ८॥

शब्दार्थ—आगार=भवन, घर, मकान। अखाड़ा=नृत्यगान।

अर्थ—लङ्काके शिखरके ऊपर एक अत्यन्त विचित्र भवन था। वहाँ संगीतके अखाड़ेमें बड़ा ही विलक्षण नृत्यगान हो रहा था॥ ७॥ रावण उस भवनमें जाकर बैठ गया। किन्नर लोग उसके गुणगण गाने लगे॥ ८॥

'लंका सिखर उपर आगारा'

(१) रा० प्र०—लङ्काके सुन्दर, सुबेल और नील तीन शिखरोंमेंसे नील नामक एक शिखरपर रावणका मुख्य राजभवन था।

(२) पु० रा० कु०—लङ्का त्रिकूटाचलपर है, यथा—*'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन*

सहज असंका॥' (कि० २८) और यह भवन उससे भी ऊपर एक कंगूरेपर है। यहाँ रावण, जितने गुणी हैं उनका गुण देखता है। [जैसे मल्लोंके अखाड़ेमें देखा जाता है कि कौन पहलवान जबरदस्त है वैसे ही यहाँ नृत्यगान करनेवालोंका अखाड़ा देखता है कि इनमें कौन उत्तम गायक और उत्तम साज बजानेवाला है। रा० बा० दा०]

नोट—१ ***'अति बिचित्र'*** का भाव कि विचित्र तो सभी भवन हैं, यथा—***'कनक कोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना। चौहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथी चारु पुर बहु बिधि बना॥'''''*** (सु० ३); पर यह दशाननका मन्दिर 'अति विचित्र है, यथा—***'गएउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं॥'*** (सुं० ५)

प० प० प्र०—१ रावण शिवभक्त है। संध्या-समय शिवजीकी पूजाका एक महत्त्वका अवसर होता है। शिवजी गानप्रिय हैं अतः यह 'मंदिर' शिवमन्दिर समझना चाहिये।

नोट-२ (क)—'किन्नर' एक देव कोटि है। ये बड़े उत्तम गवैये होते हैं। इन्हें किंपुरुष भी कहते हैं। देवता सब अधीन हैं ही; अतएव गुणी गवैये गन्धर्व, किन्नर आदि देवता गाना सुनाते हैं।' (१। ७, १। ६१। १) देखिये। (ख) 'गुणगण' अर्थात् रावणके दिग्विजय आदि।

बाजहिं ताल पखाउज बीना। नृत्य करहिं अपछरा प्रबीना॥ ९॥

शब्दार्थ—**पखावज**—एक बाजा जो मृदंगसे कुछ छोटा होता है। **ताल**=मजीरा वा झाँझ। **बीना**—यह बाजा सितारकी तरहका, पर उससे बड़ा होता है। इसमें दोनों ओर बड़े-बड़े तूँबे होते हैं जो बीचके एक लम्बे डाँड़से मिले होते हैं। इसमें साधारणतः पाँच या सात तार होते हैं। यह बाजा बहुत उच्च कोटिका माना जाता है।

अर्थ—ताल, पखावज और वीणा बज रहे हैं। नृत्यमें कुशल अप्सराएँ (मेनका, रम्भा, उर्वशी आदि) नाच रही हैं॥ ९॥

नोट—१ ***'अपछरा प्रबीना'*** यथा—***'रंभादिक सुरनारि नबीना। सकल असमसर कला प्रबीना॥ करहिं गान बहु तान तरंगा॥'*** (१। १२६। ४), जो इन्द्रके यहाँ नाचती-गाती थीं वे अब यहाँ गाती-नाचती हैं, इसीसे आगे 'इन्द्र' के समान विलास करना कहा।

दो०—सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास।
परम प्रबल रिपु सीस पर तदपि न सोच न त्रास*॥ १०॥

शब्दार्थ—**सुनासीर**=इन्द्र। **बिलास**=आनन्दमय क्रीड़ा, सुखभोग।

अर्थ—सैकड़ों इन्द्रोंके समान वह (रावण) सदा भोग-विलास करता है। परम प्रबल शत्रु सिरपर है फिर भी उसे न सोच है और न डर ही॥ १०॥

☞ ***'सुनासीर'*** नाम मानसमें दो ही स्थलोंपर आया है। एक तो नारद-मोह-प्रकरणमें, दूसरे यहाँ। वहाँ भी उसे अति चिन्ता थी और यहाँ तो राज्य छिन ही सा गया है,—***'सुनासीर मन महुँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा॥'*** (१। १२५) यह शब्द इन्द्रके लिये रूढ़ है।

मा० म०—मुनि लोमशकी आयुकी तरह रावणके भोग-विलासकी आयु भी नहीं घटती है वरन् नख और दाँतके समान बढ़ती जाती है। जैसे नख काटनेपर और दाँत टूटनेपर पुनः उत्पन्न होता है वैसे ही रावणका भोग बढ़ता ही जाता है। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजीसे शत्रुता करनेसे सर्वनाश निश्चय है तथापि विषय-सिन्धुमें रावण निमग्न है। लङ्कामें कितने जल गये, कितने कट गये, कितने अधमरे हो गये, अर्थात् सब प्रकार लङ्का अबल होती जाती है और यद्यपि रावणको लङ्काके जलने आदिका शोक होना चाहिये तो भी वह महाभयानक मृत्युसागरमें आनन्दसे भोग कर रहा है, उसे कुछ चिन्ता नहीं है।

करु०—(१) रावणका अति हर्षसे नृत्यगान कराना वीररसका स्थायीभाव है अर्थात् उत्पादक है। (२)

---

* 'तदपि न कछु मन त्रास'—(का०); 'तदपि न सोच न त्रास'—(छ०) 'तदपि सोच नहिं त्रास'। 'तदपि सोच न त्रास'—(भा० दा०)।

शत इन्द्रसे अधिक भोग कहनेका भाव कि—(क) रावण युवावस्थाका है। इन्द्र बुड्ढा है। वा, (ख) रावणके एक ही पुत्रने इन्द्रको बाँध लिया, इससे। वा, (ग) इन्द्रको सदा दानव, दैत्य, राक्षसका भय बना रहता है और जहाँ किञ्चित् भी भय होता है वहाँ सुख कहाँ? वहाँ तो विषयानन्दका अभाव है और यहाँ रावण निर्भय भोग करता है। अतः शत इन्द्र सरिस कहा।

रा० बा० दा०—रावण पूर्वका भानुप्रताप राजा है। उस जन्ममें उसने सहस्र-सहस्र यज्ञ किये थे। यथा—*'जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग। बार सहस्र सहस्र नृप किए सहित अनुराग॥'* (१५५) सौ यज्ञसे इन्द्रपद प्राप्त होता है। दस हजार यज्ञसे १०० इन्द्रका विलास प्राप्त होता है। अतः पूर्वजन्मके सहस्रों यज्ञोंका फल इस जन्ममें उसे सैकड़ों इन्द्रोंके समान भोगनेको मिला। क्योंकि इस जन्ममें उसकी मुक्ति होनी है।

नोट—१ *'परम प्रबल'* से बली, महाबली वा प्रबल और परम प्रबल तीनका बोध हुआ। सब वानर बलवान् हैं, यथा—*'सहज सूर कपि भालु सब।'* (५। ५५) हनुमान्‌जी महा बलवान् हैं, यथा—*'है कपि एक महाबल सीला।'* (२२। ५) जिनने लङ्का जला दी, पुत्रको मारा। और श्रीरामजी परम प्रबल हैं क्योंकि इन्होंने अतुलित बलशाली बाली आदिको मारा है, यथा—*'खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥'*(सुं० २१। ९)

रा० प्र०—'परम प्रबल' का भाव कि अपनी मृत्यु नरके हाथ ललाटपर देख चुका है और अपने समान बलवान् खरदूषणादिका वध भी इनके हाथों सुन लिया, यथा—*'खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥'* (३। २३। २) यह निश्चय हो गया कि ऐसा वीर कोई नहीं। मारीचसे भी सुन लिया कि *'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥'* (३। २५। ८) इससे यह जानता है कि 'परम प्रबल' हैं, तो भी किञ्चित् चिन्ता नहीं है। इस दोहेमें तीसरी 'विभावना अलङ्कार' है।

प० प० प्र०—सु (=सुष्ठु) **नासीरं सेनामुखं यस्य स सुनासीरः।** अर्थात् जिसकी अच्छी सेना है। *'सुनासीर सत सरिस सो'* का भाव कि रावणके पास इन्द्रसे शतगुणी अच्छी सेना है, इससे वह निश्चिन्त है। उसका पुत्र इन्द्रजित् मेघनाद ही अकेले समस्त शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ है, यह रावण जानता है और मेघनादके समान उसके यहाँ अनेक सुभट हैं, यथा—*'मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ'* , तब उसको चिन्ता क्यों होने लगी।

☞ नोट—२ रावणको विनयमें महामोह और मोहसे रूपक दिया है, यथा—*'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं।'* एवं *'मोह दसमौलि तद्‌भ्रात अहंकार ..... ।'* (पद १८१, ५८) महामोहमें फँसे हुए जीवकी यही दशा है जो दोहेमें कही गयी। यह आसुरी प्रकृतिवाला जीव अपने विलासको इन्द्रसे हजारों गुणा अधिक और अपनी आयुको न नाश होनेवाली समझकर मृत्यु सिरपर खड़ी देखकर भी कुछ भय नहीं खाता और न अपने उद्धारकी चिन्ता करता है।

रावण-मन्दोदरी-मन्त्रिसंवाद प्रकरण समाप्त हुआ

सुवेल पर्वतकी झाँकी

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥ १॥

अर्थ—यहाँ रघुवीर श्रीरामचन्द्रजी सुवेल पर्वतपर सेनासहित बड़ी भीड़के साथ उतरे॥ १॥

नोट १—पूर्व ५(३) में सिन्धुपार उतरकर डेरा करना कहा। बीचमें सेनाका फल खाना, राक्षसोंके नाक-कान काटना, रावणका सेतुबन्धन समाचार सुनना, मन्दोदरीका उसे समझाना, सभामें रावणका मन्त्रियोंसे सलाह कहना, प्रहस्तका उसे समझाना और फिर लंकाशिखरपर रावणका अखाड़ा देखना वर्णन किया। अब पुनः पूर्व प्रसङ्गको जहाँ छोड़ा था वहींसे उठाकर रावणके महारसका भङ्ग कहेंगे। अतः 'इहाँ' पद देकर दूसरे प्रसङ्गका प्रारम्भ जनाया। जब एक ओरका प्रसङ्ग कहकर उसी समयका दूसरी ओरका प्रसङ्ग

कवि कहते हैं तब 'इहाँ' या 'उहाँ' या इसके पर्य्याय शब्दोंका प्रयोग उन्होंने जहाँ-तहाँ किया है। जब रावणपक्षका समाचार कहकर उसी समयका रामपक्षका समाचार कहना प्रारम्भ करते हैं तब प्रायः सर्वत्र उन्होंने 'इहाँ' शब्दका प्रयोग किया है। इहाँ=इधर, इस पक्षमें, हमारी ओर। 'इहाँ' पदके इस प्रयोगसे वक्ता अपनी स्थिति रामचन्द्रजीके समीप सूचित करते हैं और इससे अपना निजत्व-ममत्व श्रीरामजीसे प्रकट कर रहे हैं। इसके और उदाहरण ये हैं—*'इहाँ प्रात जागे रघुराई।'* (१७। १), *'इहाँ राम अंगदहि बुलावा।'*(३७। ३), *'इहाँ देवरिषि गरुड़ पठाएउ।'* (७३। १०), *'इहाँ बिभीषन मंत्र बिचारा।'* (७४। ३), *'इहाँ बिभीषन सब सुधि पाई।'* (८४। १) ये सब उदाहरण रावणपक्षके समाचार-कथनके पश्चात् उसी समयके रामपक्ष-समाचार-कथनके हैं। रामपक्षके समाचार-कथनके साथ बहुत-से स्थलोंपर 'उहाँ' का प्रयोग भी हुआ है, यथा—(क) *'उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे सीय सुपन अस देखा॥'* (अ० २२५। ३), (ख) *'उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी॥'* (लं० ६०। १) इत्यादि।

भेद यह है कि—वक्ता संत हैं, रामभक्त हैं। वे सदा रामभक्तके साथ रहते हैं। रामभक्तके साथ होनेसे वे रामभक्तके प्रसङ्गका प्रारम्भ 'इहाँ' शब्दसे और रामपक्षका समाचार 'उहाँ' शब्दसे प्रारम्भ करते हैं। अयोध्याकाण्डमें भरतचरित कहते समय उन्होंने, भरतजीके साथ अपनी स्थिति दिखानेके लिये, वहाँसे दूर चित्रकूटका प्रसङ्ग लिखनेमें, *'उहाँ राम रजनी अवसेषा'* कहा। इसी प्रकार *'उहाँ राम लछिमनहि निहारी'* में 'इहाँ' का प्रयोग उनकी स्थिति श्रीहनुमान्‌जीके साथ प्रकट कर रही है।

साथ ही यह भी जान लेना चाहिये कि 'इहाँ' शब्द रावणपक्षका समाचार कहनेमें भी प्रयुक्त हुआ है, यथा—*'इहाँ अर्ध निसि रावन जागा। निज सारथि सन खीझन लागा॥'* (९९। ७), *'इहाँ दसानन सुभट पठाए। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाए॥'* (५२। २)

प्राचीन सभी हस्तलिखित प्रामाणिक प्रतिलिपियोंमें यही पाठ है। अतएव 'इहाँ' और 'उहाँ' के प्रयोगके सम्बन्धमें यह कहना सर्वथा प्रमाणित नहीं होता कि जब रामपक्षका समाचार कहना होता है तब कवि **'इहाँ'** और जब रावणपक्षका कहना होता है तब **'उहाँ'** लिखते हैं। और न इससे यह समझ लेना चाहिये कि जहाँ भी 'इहाँ' का प्रयोग है वहाँ कविका निजत्व अवश्य है। हाँ, इतना अवश्य निर्विवाद सिद्ध है कि वक्ताका ममत्व, निजत्व और स्थिति सदा श्रीराम या रामभक्तके सङ्ग है। जब इनका समाचार लिखते हुए फिर रावणपक्षका समाचार लिखना होता है तब वक्ताकी स्थिति जहाँ है वहाँसे यदि रावणपक्षके प्रसङ्गका स्थल दूर है तो 'उहाँ' और निकट है तो 'इहाँ' का प्रयोग किया है अर्थात् वक्ताकी स्थितिपर 'इहाँ' और 'उहाँ' का प्रयोग होता है। इनके प्रयोगमें राम और रावणकी स्थितिकी विशेषता नहीं है। [पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि *'इहाँ दसानन सुभट पठाए'* इस प्रसङ्गमें मेघनाद और श्रीलक्ष्मणजीका द्वन्द्व युद्ध है, मेघनादकी सहायताके लिये रावणने सेना भेजी है। जिनके साथ मेघनादने वैरभावकी सेवासे श्रीलक्ष्मणजीको बाणोंसे तृप्त किया है और उसीसे उसने परम लोक पाया है, यथा—**'गतः स परमाँल्लोकाञ्शरैः संतर्प्य लक्ष्मणम्।'** (वाल्मी० ६। ९२। ३) अतः श्रीगोस्वामीजीने उस पक्षमें भी निजत्व दिखाया है।' *'इहाँ अर्ध निसि रावन जागा। निज सारथि सन खीझन लागा॥'* इस प्रसङ्गमें भी रावण अपने पराक्रमसे श्रीरामजीको प्रसन्न करना चाहता था; यथा—**'शत्रोः प्रख्यातवीर्यस्य रञ्जनीयस्य विक्रमैः। पश्यतो युद्धलुब्धोऽहं कृतः कापुरुषस्त्वया॥'** (वाल्मी० ६। १०४। ६) अर्थात् प्रख्यात पराक्रमी शत्रुको मैं अपने पराक्रमसे प्रसन्न करना चाहता था, मैं उससे युद्ध करनेके लिये उत्सुक था, पर तुमने उसके सामने मुझे कापुरुष (कायर, डरपोक) बना दिया। इसलिये वहाँ ग्रन्थकारने उस ओर भी निजत्व दर्शाया है। रण भी श्रीरामजीकी क्रीड़ा है।] रावणपक्षके साथ 'उहाँ' के प्रयोगके उदाहरण—*'उहाँ सकोपि दसानन सब सन कहा रिसाइ।'* (३१), *'उहाँ दसानन सचिव हँकारे।'* (४७। ३), *'उहाँ दूत एक मरमु जनावा।'* (५५। २), *'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका।'* (सुं० २६। १), *'उहाँ दसानन जागि करि करै लाग कछु जग्य।'* (८३), इत्यादि।

नोट २—*'सुबेल सैल'*। प्रथम सिन्धुपार होकर सुवेलतटपर उतरे, यथा—*'कौतुक ही बारिधि बँधाइ*

उतरे सुबेल तट जाइ। तुलसीदास गढ़ देखि फिरे कपि प्रभु आगमन जनाइ॥' विशेष लं० ५ (३) में देखिये। जब वानर फलमूल खा चुके और विश्रामकर लिये तब पर्वतपर जा ठहरे। जैसे वाल्मीकिमें दो बार उतरना कहा है, वैसे ही यहाँ भी कहा गया।

नोट—३ (क) 'रघुवीर' का भाव कि शत्रुपुरीमें पहुँचकर भी आप निर्भय हैं, क्योंकि पराक्रमी वीर हैं, पीछे हटनेवाले नहीं हैं। इसीसे समुद्रपार होकर अब और आगे बढ़कर पर्वतपर उतरे।—**'प्रतस्थे पुरतो रामो लंकामभिमुखो विभुः।'**(वाल्मी० ६। २३। १४) (ख) *'उतरे सेन सहित'* कहकर जनाया कि यह पर्वत बहुत बड़ा है कि इसपर सेना भी आ गयी। इसका शिखर, जिसपर श्रीरामचन्द्रजीका मन्त्रियोंसहित रात्रिमें निवास हुआ, आठ कोश विस्तारका था, यथा—**'ततो रामः सुवेलाग्रं योजनद्वयमण्डलम्। उपारोहत्ससुग्रीवो हरियूथैः समन्वितः॥'** (वाल्मी० ६। ४०। १) अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी दो योजन विस्तारवाले सुवेल पर्वतपर सुग्रीव तथा अन्य वानरयूथपोंसहित चढ़े। पुनः यह भी जनाया कि यहाँ फल, मूल और जलाशय भी बहुत हैं जिससे सेनाको सब प्रकारका सुख मिल सकेगा। राजनैतिक दृष्टिसे सुवेलपर दखल कर लेना बड़ी बुद्धिमानी सूचित करता है। इसके शिखर बड़े-बड़े हैं और ऐसे ऊँचे हैं कि उनपरसे शत्रुका नगर अच्छी तरह देख पड़ेगा और शत्रुपर वहाँसे ही निशाना लगा सकेंगे।

यह वही पर्वत है जिसके शिखरपर चढ़कर श्रीहनुमान्‌जीने लंकाके भीतरका दृश्य देखा था। यथा—*'सैल बिसाल देखि एक आगे। तापर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे॥'''''''गिरिपर चढ़ि लंका तेहिं देखी।'''''* ' (सुं० ३। ८-१०)

नोट—४ (क) *'अति भीरा'* में यह भी भाव है कि चोरीसे नहीं उतरे वरन् डंकेकी चोटपर। (ख) *'सेन सहित अति भीरा'* इति। (ग) पूर्व जब सेना सेतुबंधपर चली तब भी 'अति भीर' पद दिया गया है, यथा—*'सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभपंथ उड़ाहिं।'* (४) और अब 'सुवेल' पर उतरनेपर भी 'अति भीरा' पद दिया गया। भाव यह है कि सेतुपर सब वानर पार होनेके लिये एकत्र हुए थे, इससे वहाँ भीड़ दिखायी पड़ी थी और अब पर्वतपर टिकनेपर सब सेना एकत्र होनेसे पुनः भीड़की अपारता देख पड़ी। पूर्व वानर फल खानेके लिये इधर-उधर फैले थे। इससे भीड़ न जान पड़ती थी। अब सिमिटकर एकत्र हुए तब जान पड़ी। पुनः इस पदसे 'रघुवीर' पदको चरितार्थ किया है। ये रघुवीर हैं अतः धूम-धड़क्केसे रावणके समीप पर्वतपर उतरे कुछ चोरीसे नहीं उतरे। पुनः (ग) रा० प्र० का मत है कि सेना इससे इकट्ठी हुई कि अब शत्रुका सामना है, व्यूह रचना करनी होगी।

नोट-५ *'सेन सहित उतरे रघुबीरा। कहि न जाइ कपि जूथप भीरा॥'* (५। २) उपक्रम है और *'इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥'* उपसंहार है। इस तरह पूर्वापर प्रसंग मिलाया। 'यूथप' शब्दसे स्पष्ट कर दिया कि सुबेलपर केवल यूथपति ही हैं।

सिखर एक उतंग अति देखी। परम रम्य सम सुभ्र बिसेषी॥ २॥

शब्दार्थ—शुभ्र=सफेद, श्वेत। शुक्लः शुभ्रः शुचिः श्वेत इत्यमरः।

अर्थ—सुबेल पर्वतपर एक अत्यन्त ऊँचा, परम रमणीय (सुन्दर), समतल और बहुत ही उज्ज्वल श्वेत शिखर देखकर॥ २॥

☞ यह पाठ भा० दा० का है। का० और मा० म० में पाठ यह है—

'सैल शृंग एक सुंदर देखी। अति उतंग सम सुभ्र बिसेषी॥'

नोट—१ पाठ दोनों ही निर्दोष हैं पर भा० दा० के पाठमें *'सिखर एक उतंग अति देखी'* शिखरकी वास्तविक उत्तुङ्गता और उबड़-खाबड़पनके अनुरूप है। भावके अनुरूप शब्दोंका रखना विशेष काव्य-कौशल समझा जाता है, इसलिये हमारी रायमें भा० दा० का ही पाठ समीचीन है। (गौड़जी)

नोट—२ *'एक उतंग अति'* इति। 'एक' का भाव कि इसकी समताका वहाँ दूसरा न था। यह सबसे ऊँचा था। सुवेल पर्वतपर सेना टिकी, अब उसके सर्वोच्च शृङ्गकी देख-रेख हुई; इससे यह सूचित करते

हैं कि लंकापुरी भी ऐसे ही ऊँचे पर्वतपर बसी थी, सुवेल पर्वतपरसे लङ्कापुरीके भीतरका भाग न देख पड़ता था। अत: सर्वोच्च शिखरपर जानेका विचार हुआ। वाल्मी० ३७-३८ में लिखा है कि सेनाको चारों दिशाओंमें स्थित करके प्रभुने लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषणसे कहा कि आज रात्रिको हमलोग सुवेल पर्वतपर निवास करेंगे, क्योंकि वह बहुत सुन्दर है और उसपरसे हमलोग लङ्का और उसमें राक्षस रावणका घर देख सकेंगे, यथा—'**सुवेलं साधुशैलेन्द्रमिमं धातुशतैश्चितम्। अध्यारोहामहे सर्वे वत्स्यामोऽत्र निशामिमाम्॥**' (६। ३८। ३) **लङ्कां चालोकयिष्यामो निलयं तस्य रक्षसः।**' (वाल्मी०। ३८। ४) लंका भी अति उतंग है; यथा—'*अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा॥*' (सुं० ३) अत: उसके मुकाबिलेमें यहाँ भी 'अति उतंग' शिखरपर टिकेंगे।

पंजाबीजी लिखते हैं कि ऊँचे शृङ्गपर डेरा करनेका दूसरा कारण यह है कि राजाका डेरा सेनाके मध्यमें सेनाद्वारा चारों ओरसे सुरक्षित और ऊँचे स्थानमें होना ही चाहिये।

नोट ३—यह पर्वत सुन्दर और अनेक प्रकारकी धातुओंसे विभूषित एवं चित्रित हो रहा था, इसीसे 'परम रम्य' कहा, यथा—'**सुवेलं साधुशैलेन्द्रमिमं धातुशतैश्चितम्।**' (वाल्मी० ३८। ३), '**रामः सुवेलमासाद्य चित्रसानुमुपारुहत्॥**' (३८। ६)

परम रम्य कहकर जनाया कि प्रभुको सुख देनेवाला है, उनके मनको रमानेवाला है, यथा—'*परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत।*' इस पदसे इस शिखरका दिव्य अलौकिक सौन्दर्ययुक्त होना सूचित किया है।

नोट ४—'*सम सुभ्र बिसेषी*'। (क) 'सम' अर्थात् उसकी जमीन चौरस है, समतल है, ऊँची-नीची उबड़-खाबड़ नहीं है। समतल देखनेका भाव यह कि जिसमें प्रभुके समीप ही उनके समीपवर्ती सेवक भी रह सकें। (ख) शुभ्र स्थानपर चाँदनीका प्रकाश अधिक रहता है, अत: शुभ्र स्थान देखा—(पं०)। वा, श्वेतसे जनाया कि यह स्फटिकमणिकी है जो अत्यन्त श्वेत होती है। चित्रकूट और किष्किन्धामें भी सरकारसे निवासस्थानपर स्फटिक शिला थी, जहाँ वे बैठा करते थे, यथा—'*बैठे फटिक सिला पर सुंदर।*' (आ० १। ४), '*फटिकसिला बैठे दोउ भाई।*' (५। २९। ८), '*फटिकसिला अति सुभ्र सोहाई। सुख आसीन तहाँ दोउ भाई॥*' (किष्किन्धाके प्रवर्षण गिरिपर); वैसे ही यहाँ भी फटिकमणिकी शिला होना युक्तयुक्त ही है। वन्दनपाठकजी लिखते हैं कि इस शब्दको देकर प्रभुका सत्त्वगुणमें वास जनाया। (ग) 'सम' और 'शुभ्र' से यह भी जना दिया कि कुशकण्टकादिसे रहित है।

तहँ तरु किसलय सुमन सुहाए। लछिमन रचि निज हाथ डसाए॥ ३॥
तापर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥ ४॥

शब्दार्थ—**किसलय**=नये निकले हुए कोमल पत्ते।

अर्थ—उसपर लक्ष्मणजीने वृक्षोंके नये कोमल पत्ते और सुहावने फूल अपने हाथोंसे रचकर बिछाए (अर्थात् पहले कोमल-कोमल नवीन पत्तोंको बिछाया फिर उसपर सुन्दर खिले हुए फूल रच-रचकर बिछाकर फूलका सेज प्रभुके लिये तैयार किया)॥ ३॥ फिर उसपर 'रुचिर' कोमल मृगछाला बिछा दी। इसी आसनपर दयालु रघुनाथजी विराजमान हुए॥ ४॥

पं०—रामाश्वमेधके अनुसार पौष शुक्ल पूर्णिमाके दिन रघुनाथजीका सुवेलपर डेरा हुआ। लंकामें दिनरात बराबर होते हैं इससे शीत-उष्णकी विशेषता नहीं होती इसीसे शिखरपर चाँदनी देखनेको बैठे।

☞ नोट १—लंकाकी स्थिति Equator विषुवतरेखाके दक्षिणमें थी, इससे वहाँ पौषमें भी शीत नहीं होता, बल्कि ज्यों-ज्यों दक्षिण जाते हैं त्यों-त्यों उत्तर गोलार्द्धकी ठीक उलटी ऋतुएँ मिलती हैं। पूस-माघमें कड़ी गरमी पड़ती है। नोट—२ वाल्मीकीयसे भी पौषकी पूर्णिमाहीको शिखरपर जाना सिद्ध होता है; यथा— '**ततोऽस्तमगमत्सूर्यः संध्यया प्रतिरञ्जितः। पूर्णचन्द्रप्रदीप्ता च क्षपा समतिवर्तते॥ ततः स रामो हरिवाहिनीपतिर्विभीषणेन प्रतिनन्द्य सत्कृतः। सलक्ष्मणो यूथपयूथसंयुतः सुवेलपृष्ठे न्यवसद् यथासुखम्॥**' (६। ३८। १९-२०)

अर्थात् तब सूर्य अस्त हो गया और साँझकी शोभासे आकाश रङ्गीन हो गया। आकाशमें पूर्णिमाका

चाँद निकल आया और रात हो चली। वानर-सेनाके स्वामी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विभीषण, लक्ष्मण और सेनानायकोंके साथ सुवेलशैलपर सुखसे विराजे।

आज पूर्णिमा है, यही मानसकारका मत है जैसा अगले दोहेसे स्पष्ट है। यथा—**'पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक'**। पूर्णचन्द्र पूर्णिमाको ही पूर्व दिशामें उदय होता है, अन्य तिथियोंमें नहीं।

मानसके मतानुसार सेना उसी दिन समुद्र पार हुई। दिन-ही-दिनमें सेना समुद्रतटपर उतर चुकी थी और रावणको भी दिनमें ही समाचार मिल गया था जब वह सभामें ही था। अत्यन्त घबड़ाहट और व्याकुलताके कारण ज़ब उसके दसमुखोंसे बरबस सहसा समुद्रका एक-एक नाम एक साथ ही निकल पड़ा तब अपना भय छिपानेके लिये वह सभासे घरमें चला गया—**'बिहँसि चला गृह करि भय भोरी।'** यहाँ मन्दोदरीकी फटकार पड़ी तब फिर यहाँसे उठकर सभामें जा बैठा, यथा—**'सभा बहोरि बैठ सो जाई।** सन्ध्या या निशा आदि शब्दोंका अभाव और **'बहोरि'** पद प्रमाण हैं कि उसी दिन दो बार सभामें यह गया। यदि दूसरा दिन होता तो 'सन्ध्या, 'प्रात' आदि शब्दोंका प्रयोग अवश्य होता जैसे अन्य स्थलोंपर कविने किया है। यथा—**'संध्या समय जानि दससीसा। भवन चलेउ निरखत भुज बीसा॥'** (१०। ६), **'एहि बिधि करत बिनोद बहु प्रात प्रगट दसकंध। सहज असंक सुलंकपति सभा गयउ मदअंध॥'** (१६), **'साँझ जानि दसकंधर भवन गएउ बिलखाइ।'** (३४), **'सभा गएउ उठि होत बिहाना।'** (३७। १)

नोट—**'सुमन सुहाए'**। **'सुहाए'** का भाव कि फूल देखनेमें सुन्दर, नवीन, पूरे खिले हुए, सुगन्धित और कोमल हैं।

रा० प्र०—**'लछिमन रचि निज हाथ डसाए'** इति। (क)—**'रचि'** का भाव कि ऐसे कोमल पत्ते बिछाए जो सीधे और बराबर हैं, फिर ऊपरसे सुन्दर पुष्प सजाकर इसी प्रकार बिछाये जिसमें ऊँचा-नीचा कहीं न हो जो गड़े, सेज चौरस और गुलगुली हो। (ख)—लक्ष्मणजीने अपने हाथसे बिछाया, इसका कारण यह है कि सज्जा (शय्या)—सेवा आपकी नित्यकी सेवा है यहाँतक कि गर्भमें भी यह सेवा नहीं छोड़ी। —यह मत काष्ठजिह्वा स्वामीका है।

'तापर रुचिर मृदुल मृगछाला'

यह मृगछाला माया-मृग मारीचवाली है। **'रुचिर'** विशेषण कविने यही बात सूचित करनेके लिये यहाँ भी दिया है। वहाँ सीताहरणके पूर्व **'सीता परम रुचिर मृग देखा'** और पतिसे उन्होंने इसके लानेकी प्रार्थना की—**'सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥'**; और उसके पश्चात् रुचिर मृगछालेका उल्लेख प्रथम-प्रथम यहीं आया है। यहाँ भी वही **'रुचिर'** शब्द है। आ० २७ (३) (७) में **'रुचिर'** की व्याख्या और **'सत्यसंध'**, **'प्रभु'** और **'कठिन सर'** के भाव देकर यह बताया जा चुका है कि मृगचर्म मायामृगवाला है। आ० २७ देखिये। गीतावली और हनुमन्नाटक इसके सुप्रसिद्ध प्रमाण हैं। **'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'** ये शिववाक्य हैं। फिर भला मृगचर्म कैसे न मिलता? यह भी विदित रहे कि मानसमें वनवासके समयसे मीराच-कनकमृगके पूर्व कहीं मृगचर्मका नाम नहीं है। कुशासनहीका बराबर वर्णन है। इससे यह निश्चय है कि दूसरा कोई मृगचर्म साथ नहीं था। विशेष आगे ११ (५-६) में देखिये। मारीचवधके बाद जब लक्ष्मणजी मायासीतासे प्रेरित होकर श्रीरामजीके पास गये तब उन्होंने मृगचर्म भाईके हाथसे पाया। उस समयसे बराबर यह लक्ष्मणजीके ही पास रहा है, यथा—**'हेमको हरनि हनि फिरे रघुकुलमनि लखन ललित कर लिए मृग छाल।'** (गी० आ० पद ९), क्योंकि जिनके लिये वह **'रुचिर मृगचर्म'** लाया गया था उनका तबसे बराबर वियोग ही रहा।

२-सीताहरणके समयसे आजके पूर्व यह चर्म कहीं बिछाया नहीं गया, क्योंकि यदि ऐसा हुआ होता तो किसी-न-किसी ढंगपर इसका उल्लेख कुछ-न-कुछ अवश्य पाया जाता। यह क्यों? पूर्व अ० १९८, आ० ३०(९। १४) एवं कि० (५। ६) और सुन्दरकाण्डमें बताया जा चुका है कि प्रियकी कोई वस्तु एवं प्रियका स्मरण दिलानेवाली कोई भी वस्तु जब वियोगीके सामने पड़ती है तब उससे उसमें विरहका

उद्दीपन होता है। '*कनकबिंदु दुइ चारिक देखे*' भरतजीका शोक कैसा बढ़ जाता ? पुनः '**सीय साथरी**' देख क्या दशा होती है? वे कैसे शोकाकुल हो जाते हैं, यह उन्हींके शब्दोंमें आपने देखा है—'***बिहरत हृदय न हहरि हर पबि ते कठिन बिसेषि।***' (अ० १९९) इत्यादि। श्रीरघुनाथजीका विलाप श्रीसीताहरणके बाद सम्पूर्णतः इस उद्दीपनका प्रमाण है। फिर किष्किन्धामें भी '*पट उर लाइ सोच अति कीन्हा*' सुन्दरकाण्डमें समाचार पा जानेपर यह शोक कुछ कम हुआ—'***चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही॥***' पर सीताजीका दुःख सुननेपर फिर '*भरि आए जल राजिव नयना।*' अस्तु! इस उद्दीपनके स्वयं ही कारण न बन जायँ, इस विचारसे लक्ष्मणजी युक्तिपूर्वक इसे रखे ही रहे।

सीताशोध होनेपर तुरंत प्रस्थान हो गया। आज शत्रुकी पुरीमें प्रवेश हुआ है। और जैसा वह '**रुचिर**' मृगचर्म है वैसा ही परम रमणीय स्थान भी उसके बिछाये जाने योग्य मिला है। श्रीलक्ष्मणजीके चित्तमें अम्बा श्रीजानकीजीका हनुमान्‌जीद्वारा भेजा हुआ संवाद '***अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीनबंधु प्रनतारतिहरना॥***'—बराबर चुभता रहा है जिसकी झलक एक स्थानपर किञ्चित् आ भी गयी है—'***नाथ दैव कर कवन भरोसा।***······***कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥***' देखिये तो प्रभुकी आँखके इशारेसे ही दब जानेवाले छोटे भाई यहाँ उन्हीं प्रभुको क्या कह डालते हैं? पाठक, बस इतनेसे ही श्रीसीताजीके उपयुक्त वचनोंका प्रभाव उनपर पड़ा है, उसका अंदाजा कर लें।

कहनेका आशय यह है कि वे उस समयसे ही सीताप्राप्ति-साधनमें किञ्चित् विलम्ब नहीं सह सकते। आज सीताप्राप्तिके लिये हृदयमें विरहका उद्दीपन करके शीघ्र शत्रुका संहार करानेके लिये प्रथम और बहुत ही उत्तम अवसर और स्थान प्राप्त जानकर उन्होंने वह सीताजीका परम अभीष्ट रुचिर मृगचर्म पुष्पशय्याके ऊपर बिछाया है तथा प्रभु उसपर जाकर विराजमान हुए। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि इस समय रामचन्द्रजीको रावणपर बड़ा क्रोध है, क्रोधावेशमें वे सुवेलपर चढ़े थे, यथा—

'**एवं संमन्त्रयन्नेव सक्रोधो रावणं प्रति। रामः सुवेलमासाद्य चित्रसानुमुपारुहत्॥**' (३८। ८)

बस, क्रोध तो है ही, उससे पूरा कार्य लेनेके लिये लक्ष्मणजीने मृगचर्म बिछाकर उसे उत्तेजित किया।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजीने इस मतका विरोध किया है। अरण्यकाण्ड दोहा २७ में उनका लेख दिया जा चुका है। पाठकोंने वहाँ पढ़ा ही है, अब भी वहीं देख लें। यहाँपर भी वि लिखते हैं—'यह मृगछाला कहाँसे आयी इस विषयमें मतभेद है पर मतभेदके लिये स्थान नहीं है। श्रीरामलक्ष्मणजी मुनिवेषमें रहते थे। मुनिवेषमें मृगछालाका अन्तर्भाव होता ही है। मारीचमृगका चर्म यह नहीं है। यहाँ आसन=राजाके छः गुणोंमेंसे एक। यथा—'**संधिर्नाविग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः**' '**कालादिप्रतीक्षया विजिगीषोर्दुर्गादीन् वर्धयतः स्थितिः आसनम्।**' (अमरव्याख्यासुधा)

पं०—'**कृपाला**' विशेषण दिया क्योंकि यहाँ समीपवर्ती वानरों, सखाओंपर कृपा करके उनसे वार्तालाप करेंगे।

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥ ५॥
दुहुँ कर कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥ ६॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी कपिराज सुग्रीवजीकी गोदमें अपना सिर रखे हैं। उनके बायीं ओर धनुष और दाहिनी ओर तरकश रखा हुआ है॥ ५॥ दोनों हस्तकमलोंसे प्रभु बाण सुधार रहे हैं। लंकेश विभीषणजी कानोंसे लगकर मन्त्र कह रहे हैं।

नोट—१ यहाँसे चार अर्धालियोंमें प्रभुका ध्यान वर्णन किया जा रहा है। यह ध्यान हनुमन्नाटकमें भी है। वहाँ भी सुग्रीव, विभीषण, हनुमान्, अङ्गद और लक्ष्मणजीहीका साथमें होना वर्णित है। यथा—

'**अंके कृत्वोत्तमाङ्गं प्लवगबलपतेः पादमक्षस्य हन्तुर्भूमौ विस्तारितायां त्वचि कनकमृगस्यांगशेषं निधाय॥ बाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनार्पितं तीक्ष्णमक्ष्णोः कोणेनोद्वीक्ष्यमाणस्त्वदनुजवचने दत्तकर्णोऽयमास्ते॥ भ्रूभंगाद्बद्धसिन्धू**

रघुपतिरवताद्बन्दिना वेदितोऽसौ विष्टस्ते मातुलस्य त्वचि पुनरनुजे मन्त्रिणि प्रत्तकर्मा॥ बाणे दत्तार्धदृष्टिस्तव जयपिशुने लक्ष्मणे सस्मितो यः सुग्रीवग्रीवबाहुः कृतचरणभरः सोऽङ्गदे वायुपुत्रे॥' (११। ७। ८)

अर्थात् (रावणके प्रश्न करनेपर कि रामचन्द्र कहाँ हैं महोदर बोला कि) वानरराज सुग्रीवके अङ्कमें अपने सिरको रखकर अक्षकुमारको मारनेवाले हनुमान्‌जीकी गोदमें चरणको रखकर और पृथ्वीमें बिछायी हुई सुवर्णके मृगकी मृगछालामें शेष शरीरको रखकर लक्ष्मणजीके दिये हुए राक्षसकुलनाशक तीक्ष्ण बाणको नेत्रोंके कोनोंसे देखते हुए और तुम्हारे भाई विभीषणकी बातोंमें कान लगाये हुए यह रामचन्द्र हैं। (पुनः महोदर मन्त्री बोला) हे रावण! जिन्होंने भ्रूके विलाससे ही सागरको बाँधा और जो स्तुतियोंको प्राप्त होकर, रक्षा करनेके निमित्त मारीचके मृगचर्मपर बैठे, तुम्हारे छोटे भाईको जिन्होंने मन्त्रीका कार्यभार सौंपा है, वे बाणोंकी ओर आधी दृष्टि लगाये, तुम्हारी जयका विनाश करनेवाले लक्ष्मणकी ओर हँसते हुए, सुग्रीवके गलेमें बांहे डाले हुए और हनुमान् तथा अङ्गदकी गोदमें चरण दिये हुए, ये रामचन्द्र हैं।

नोट—२ श्रीसुग्रीवजीकी गोदमें सिर है। क्योंकि ये प्रथम सखा हैं और वानराधीश हैं। इन्हींके ऊपर सेना और सीताप्राप्तिका सारा भार है। इसीसे 'कपीश' पद यहाँ दिया गया। इनको राज्य प्राप्त हो चुका है। विभीषण राजा बना दिये गये हैं पर अभी राज्य प्राप्त नहीं हुआ। अतः सुग्रीवका स्थान यहाँ उनसे ऊँचा है। इससे सुग्रीवका सम्मान अधिक जनाया।

नोट-३ ***'बाम दहिन दिसि चाप निषंगा'*** में यथासंख्य अलङ्कार है। धनुष बायें हाथ वा कंधेपर रखा ही जाता है, अतः यहाँ लेटनेपर वह बायीं ओर रखा है और बाण दहिनेमें रहता है इसीसे तरकश दाहिनी ओर रखा है जिसमें आवश्यकता पड़नेपर उठानेमें अड़चन न पड़े और न विलम्ब हो।

नोट—४ ***'दुहुँ कर कमल सुधारत बाना'*** इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीने ही बाण लाकर प्रभुके हाथोंमें दिया है—**'बाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनार्पितम्'**। (हनु० ११। ७) इससे यह भी जान पड़ा कि उन्होंने धनुष और तरकस भी प्रभुके पास रखे हैं। अथवा, प्रभुने स्वयं ही लेटते समय शरीरपरसे उतारकर रख दिये हैं। दोनों ही बातें सम्भव हैं। पर प्रथम भावसे श्रीलक्ष्मणजीकी त्वरा सिद्ध होती है। (ख) **'सुधारत'** इति। सीताहरणके बादसे अबतक धनुषबाणका काम केवल दो बार पड़ा—कबन्ध-वध एवं बालि-वधपर। ये दोनों काम भी सीताहरणके बाद शीघ्र ही हुए थे। फिर भी एक ही बाण काम आया, दूसरेकी जरूरत न पड़ी थी। तबसे आजपर्यन्त इनका काम न पड़ा था, अब इनसे काम लेनेका समय प्राप्त हुआ है, अतः सुधार रहे हैं। (ग) दोनों हाथोंसे सुधारना कहकर जनाया कि एकमें लिये हैं, दूसरेसे उसकी फोंक आदि पोंछकर साफ करते हैं। हनु० ११। ७, ८ के अनुसार 'सुधारने' का भाव यह निकलता है कि श्रीलक्ष्मणजीके दिये हुए राक्षसकुलनाशक बाणको नेत्रोंके कोनोंसे देखते हैं। रा० प्र०—कार भी यही भाव लिखते हैं कि 'बाणकी सुधाई' (सीधापन) कानोंके समीप जाँच रहे हैं। उनका एवं करुणासिन्धुजीका प्रधान मत यह है कि दोनों हाथोंसे सुधारनेका भाव यह है कि दोनों करकमलोंसे तीरको फिरा रहे हैं, यथा चित्रकूटमें ***'कर कमलनि धनुसायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥'*** यथा यहाँ फेरते हैं। पर 'सुधारनेके' इस अर्थका प्रमाण कोई दासको नहीं मिला।

वि० त्रि०—जीतनेवालेका लक्षण कहते हैं। विश्रामके समयमें भी सरकार असावधान नहीं हैं, बाणोंमें लगे हुए परको ठीक कर रहे हैं, जिसमें ठीक लक्ष्य वेध हो सके, बाणोंके फलको झाँवासे माँज रहे हैं, इसीलिये कविने कहा है कि ***'बिसिख काल दसनन्ह से चोखे'।*** यहाँ तो उनसे शीघ्र ही काम लेना है, जहाँ काम नहीं भी है, वहाँ भी शस्त्रका सुधार अपने हाथसे करते हैं (यथा—***कर कमलनि धनुसायक फेरत),*** और साथ-ही-साथ मन्त्रणा भी हो रही है, विभीषणजी कानमें लगकर मन्त्र कह रहे हैं यद्यपि यहाँपर सब अपने ही हैं, फिर भी कोई सुनने न पावे इसलिये कानसे लगकर कह रहे हैं। नीतिशास्त्रका मर्यादा-पालन हो रहा है। ***'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः'।***

नोट—५ ***'कह लंकेस मंत्र लगि काना'*** इति। (क) सुग्रीवके बाद विभीषणका स्थान और नाम आता

है, क्योंकि ये भी राजा हैं। ये भी सिरसे लगे हुए हैं। सेना और युद्धका काम सुग्रीवके हाथ हैं, तो शत्रुसमाचार और उससे युद्ध करनेके लिये जो भी सलाह आवश्यक हो उसका भार विभीषणपर है। ये यहाँ भी कानसे लगे हुए कुछ मन्त्र दे रहे हैं। यथा—'**पुनरनुजे मन्त्रिणि प्रत्तकर्मा।**' (हनुमन्नाटक ११। ८) (ख)—गुप्त मन्त्र कानसे लगकर दिया ही जाता है, यथा—'***श्रवन समीप भए सित केसा। मनहु जरठपन अस उपदेसा॥***' (२। ७) इससे जनाया कि मन्त्र गुप्त कह रहे हैं। मन्त्र गुप्त रखना चाहिये, यथा—'***जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिय दुराऊ॥***' (१। १६८। ४) कविने इसीसे प्रकट नहीं किया कि क्या मन्त्र दिया गया।

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥७॥

अर्थ—बड़े ही भाग्यवान् अङ्गद और हनुमान्‌जी हैं, जो कि अनेक प्रकारसे प्रभुके चरणकमलोंको दबा रहे हैं॥ ७॥

☞ पूर्वके सभी काण्डोंमें बराबर दिखाया गया है कि जो-जो श्रीरामपदानरागी हुए एवं जिन-जिनको इन चरणोंके स्पर्श या सेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ वे सब बड़े भाग्यवान् कहे गये हैं। बा० २११ छन्द देखिये। यहाँ ये दोनों सेवामें प्राप्त है; अत: बड़भागी कहे गये।

नोट—१—सुग्रीवकी स्थिति बतायी कि वे सिरहाने हैं। फिर धनुष और तरकसकी स्थिति बतायी कि धनुष वाम और निषंग दाहिनी ओर है। निषंगको दाहिने बताकर तब उसीके पास उपस्थित विभीषणजीको कहा और इनके बाद इन्हींकी ओर बैठे हुए अङ्गदको कहा, तब हनुमान्‌जीको। इस प्रकार क्रमसे एक तरफसे कहते चले आये। निषंगकी स्थिति दिखा देनेसे और सबकी स्थिति भी निश्चित हो गयी। पुन: चाप और निषंगकी स्थिति इससे कहनेकी आवश्यकता हुई कि निषंग पीठपर रहता है पर लेटनेपर वह पीठपर नहीं रह सकता। यदि '**चाप सर**' होता तो वाम-दहिन लिखनेकी आवश्यकता न होती; क्योंकि सब जानते हैं कि चाप बायें और सर दाहिने हाथमें रहता है, यथा—'***रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा।***' (१। २०९), '***चारु चाप सर सोहत हाथा।***' (१। २१९), '**कटि निषंग कर सर कोदंडा।**' (१। १४७। ८), '***कटि तूनीर पीतपट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे॥***' (१। २४४। १), '***सोहहिं कर कमलन्हि धनु तीरा।***' (अ० ११५) तथा यहाँ ही आगे '***कटि निषंग कर बान सरासन।***' पुन: चाप और निषंगकी स्थिति इससे कही कि ये अब काममें आनेवाले हैं। पुन: विभीषणादिके विषयमें दाहिना-बायाँ कुछ न लिखा गया; क्योंकि जहाँ उल्लेख न हो वहाँ स्वाभाविक दाहिना ही पहले समझा जाता है, दाहिना-बाँया प्राय: बोला ही जाता है। इस प्रकार भी अङ्गद दाहिने हुए।

नोट—२ सुग्रीव और विभीषण दोनों राजा हैं, राजाके बाद उसके उत्तराधिकारीका स्थान होना योग्य ही है, अत: उनके बाद अङ्गदका नाम दिया गया। हनुमान्‌जी मन्त्री हैं, यथा—***सचिवन्ह सहित यहाँ एक बारा। बैठि रहेउँ कछु करत बिचारा॥***' (कि०) अत: अङ्गदके बाद इनका नाम आया। मन्त्री राजाके सप्त प्रधान अङ्गोंमेंसे है इससे उसका स्थान युवराजके बराबर होना चाहिये, यह बात भी यहाँ जना दी है।

'बड़भागी अंगद हनुमाना'

पं०—सुग्रीवादिके सत्कारपूर्वक अति समीप होते हुए भी हनुमान्‌जीको '**बड़भागी**' कहनेमें क्या भाव है?

उत्तर—(१) ईश्वरके पृष्ठ, कान, मुख और नेत्रादि सभी अङ्गोंमें चरण मुख्य (प्रधान) हैं और ये दोनों उनकी सेवाको प्राप्त हैं; अत: '**बड़भागी**' कहे गये हैं। (२) सुग्रीव और विभीषण बड़े भक्त हैं तथापि उनके मनमें राज्य और मित्रताका भी अङ्ग है और ये केवल दास हैं, अतएव बड़भागी हैं।

नोट—३—अङ्गदका अनुराग कविने उ० दोहा १८ में दिखाया है। इन्हींको प्रभुने अपने सब प्रसाद वस्त्रभूषणादि पहिनाये—'***निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।***' उस समय भी ये प्रभुके चरणोंपर पड़ गये हैं और किसीका चरणोंपर गिरना वहाँ नहीं देखा जाता है।

☞ यहाँ सुग्रीव और विभीषण '**बड़भागी**' विशेषणसे वञ्चित रखे गये, पर उनका सम्मान एकको

गोदमें सिर देने और दूसरेको सिरके पास ही बिठानेसे, अङ्गद और हनुमान्‌जीसे कम नहीं किया गया है। कविने यहाँ चारोंका बराबर सम्मान दिखाया है। उनको उच्चस्थान बैठकमें दिया, उसके बदलेमें इनको '**बड़भागी**' विशेषण दिया। इस प्रकार लौकिक दृष्टिसे जो अनादर समझ पड़ता उस त्रुटिकी, परमोच्च विशेषण देकर, पूर्ति कर दी गयी है।

पं०—(१) सुग्रीव और विभीषणकी ओर पृष्ठ और एक अङ्ग है और इनकी ओर दृष्टि है। युद्ध सभी करेंगे, पर इन दोनोंको बड़ा पराक्रम करना है। स्वामीकी अधिक सेवा इन्हीं दोनोंने की है। (२) सुग्रीव और विभीषण दोनों ही भक्त हैं, पर वे प्रथम सकाम होकर शरणमें आये थे और ये दोनों निष्काम हृदयके प्रेमसे भक्त हैं। (३) बालीने अन्तसमय अङ्गदको श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंसे लगाया—*'अंगद दास आपन कीजिए।* और, प्रभुने उसकी बाँह पकड़ी। रहे पवनसुत। सो इनके लिये तो श्रीमुखवचनामृत है कि *'प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥'* अतएव उपर्युक्त कारणोंसे कविने इन दोनोंको '**बड़भागी**' कहा है।

रा० प्र०—दासका सर्वस्व चरण ही है, जो वात्सल्यादि भावकों दुर्लभ है—*'पदहीसे गति, पदहीसे रति'।*

बाबा जयरामदासजी—'**बड़भागी**' शब्दका प्रयोग दोनों चरणसेवकोंके लिये ही किया गया है। यद्यपि विभीषणजी और सुग्रीवजीको सिर और कानके पास बैठानेमें इनसे अधिक सम्मान प्राप्त है तथापि '**बड़भागी**' शब्दसे वे वञ्चित रहे; कारण यह है कि ग्रन्थकारने केवल चरणसेवकोंके लिये ही '**बड़भागी**' शब्दका सर्वाधिकार सुरक्षित (All rights reserved) कर रखा है।' (कल्याण ५। ४)

गौड़जी—चरणसेवा, पदानुराग आदि पद भक्तिके पाँचों रसोंके लिये प्रयुक्त होते हैं। सभी बड़भागी भी कहे गये हैं। जनकपुरकी सखियाँ शृङ्गारकी, गीध और दशरथ तथा जनकादि वात्सल्यके, निषादादि सख्यके, अगस्त्य, शरभंगादि शान्तके और हनुमानादि दास्यरसके उपासक हैं, स्थल-स्थलपर सबके भाग्यकी पूरी सराहना की गयी है और उचित रीतिसे की गयी है, क्योंकि भक्तिके ये पाँचों रस हैं और (**भज सेवायाम्**) धात्वर्थसे ये सभी रस दास्यके ही प्रकारान्तर हैं, सख्यमें एक प्रकारकी सेवा है, शृङ्गारमें दूसरे प्रकारकी, वात्सल्यमें सभी प्रकारकी, शान्तमें और दास्यमें और-और प्रकारकी सेवाएँ होती हैं, इन्हींके नाते यह भक्ति रस कहलाते हैं। अवसर-अवसरपर सबके भाग्य बढ़े-चढ़े होते हैं। किसी रसके लिये भाग्यशालित्वका सर्वाधिकार सुरक्षित समझना भारी भूल है और स्वामीके समभावमें बट्टा लगाना है।

☞ श्रीरामानुरागी (कोई भी क्यों न हों), श्रीरामचरितानुरागी, पितुमातुचरणानुरागी, गुरुपदानुरागी, भक्तिका वरदान माँगनेवाले, इन सब एवं और भी कुछ लोगोंके सम्बन्धमें '**बड़भागी**' पद ग्रन्थमें आया है—*'रामकाज कारन तनु त्यागी। हरिपुर गएउ परम बड़भागी॥'* (४। २७। ८; जटायु, वात्सल्यरस)

'सब प्रकार भूपति बड़भागी।' (२। १७४। १), *'त्रिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥* (अ० २; वात्सल्यरस)

'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥' (४। २६। १३; जाम्बवन्तवाक्य)

'जे सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥' (१। १५२। ३; चरितानुरागी)

'सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥' (अ० ४१। ७; मातापिताके आज्ञाकारी)

'जे गुरपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़भागी॥' (अ० २५८। ५; गुरुचरणानुरागी)

'सब सुख खानि भगति तै माँगी। नहि जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥' (उ० ८५; भक्ति माँगनेवाले)

पं०—*'बिधि नाना'* इति। भाव यह कि चरण दबानेका भी विधान है, उसके अनुसार दाब रहे हैं। अथवा, प्रीतिकी उमंगमें अनेक प्रकारसे चरणसेवा कर रहे हैं।

प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥ ८॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी कमरमें तरकश कसे और हाथोंमें धनुषबाण लिये वीरासनसे प्रभुके पीछे विराजमान हैं॥ ८॥

☞ *'प्रभु पाछे'* अर्थात् सुग्रीवके पीछे उनसे कुछ दूरीपर हैं। पहरा देनेका यही ढंग है और इसी तरह बराबर ये रक्षामें सावधान रहते रहे हैं, यह बात शृङ्गवेरपुरके समय (अ० ९० में) कवि एक बार दिखा चुके हैं। 'वीरासन' संनद्ध जनाया—(पु० रा० कु०)

शृङ्गवेरपुर—	*कछुक दूरि*	*सजि बान सरासन*	*जागन लगे बैठि बीरासन*
सुवेल पर्वत—	*प्रभु पाछे*	*कटि निषंग कर बान सरासन*	*लछिमन बीरासन*

पं०—प्रभुके पीछे लक्ष्मणजीकी स्थिति इस निमित्त है कि—जितने सेवक समीप बैठे हैं उनका ध्यान प्रभुकी ओर है। श्रीलक्ष्मणजीने सोचा कि हम पीछे बैठकर सब ओर ध्यान रखें; क्योंकि शत्रुपुरी है, शत्रुकी समीपता है और अब रात्रिका समय भी है।

'वीरासन'। इस आसनमें बायें पैर और टखनेपर दाहिनी जाँघ रखकर बैठा जाता है। *'प्रमाणम्* अगस्त्यसंहितायाम् अध्याय १८ अगस्त्यवाक्यं सुतीक्ष्णं प्रति, यथा—'**वामपादे निधायैकं मूलं पादं च दक्षिणम्। वामाङ्काग्रे कृतं ह्येतद्वीरासनमुदीरितम्॥**' अन्यश्च—'**एकपादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुसंस्थितम्। इतरस्मिन् तथा बाहुं वीरासनमिदं स्मृतम्॥**' (अज्ञात)

मा० हं०—ऊपरका (**'सैल सृङ्ग एक सुन्दर देखी'** से यहाँतक) शब्द-चित्र कैसा प्रसंगोचित, रमणीय और मार्मिक हुआ है। यह वर्णन स्वामीजीका शब्द-चित्र उतारनेकी शक्तिका प्रेक्षणीय उदाहरण है।

☞ साधारण भाव ऊपर दिये गये पर बड़े लोगोंके सभी कार्यमें कुछ-न-कुछ विशेष कारण या गूढ़ भाव अवश्य होता है, इसी विचारसे पाण्डेजी आदिने सुग्रीवकी गोदमें मस्तक रखने, विभीषणके मन्त्रणा देने आदिके कुछ विशेष भाव भी कहे हैं जो यहाँ लिखे जाते हैं—

पां०—१ (क) श्रीसुग्रीवजीको सिर सौंपते हैं कि यह आपकी गोदमें है। (ख) बाणोंको सुधारना बाणोंका दुलार वा आदर है। तात्पर्य कि जन्मभर तुमको सेते आये, अब तुम्हारा काम पड़ा है (धोखा न देना)। (ग) अंगद और हनुमान्‌जीको चरण देनेका आशय यह है कि जहाँ ले चलोगे वहाँ चलेंगे। और, (घ) लक्ष्मणजीके वीरासनसे बैठनेका प्रयोजन यह है कि वे लोग यदि रघुनाथजीकी आज्ञाके प्रतिकूल हों तो उनको दण्ड दूँगा। पुनः राजनीतिके अनुसार यहाँ श्रीरघुनाथजी शत्रुके जीतनेका विहित उपाय कर रहे हैं। —(यहाँ जितनी क्रियाएँ हैं वे सब युक्तिपूर्वक की गयी हैं। रणाङ्गणकी तैयारी है, युद्ध होना निश्चय है। अतएव योग्यताके अनुसार यहाँ प्रधान कर्मचारियोंको कार्य सौंपा जा रहा है।)—इस तरह कि—(क) सुग्रीवकी गोदमें शीश देकर समरका भार सौंप देना सूचित करते हैं जिससे मस्तककी रक्षा होगी। (ख)—धनुष और तरकशको तनकी रक्षा सौंपी। (ग)—बाण सुधारनेकी क्रियासे जनाया कि अब पुरुषार्थका समय है, इससे शीघ्र ही कार्य लेना है। (घ) कान विभीषणको देकर शत्रुका भेद देनेका भार इनको सौंपा। कान दिया अर्थात् शत्रु-विषयक जो भी बात तुम कहोगे वही मैं सुनूँगा अर्थात् शत्रु-विषयक-मन्त्रणा भाग इनको दिया। (ङ) चरण देकर चलना और न चलना इनके अधीन किया। [अर्थात् इनका संग्राममें अचल-विचल करना, पैर जमाना, आगे बढ़ना या पीछे हटना तुम्हारे अधीन है। सुयश-अपयश तुम्हारे हाथ है। वं० पा० कहते हैं कि दोनोंको चरण देकर दोनोंको समपुरुषार्थ दिया।] (च) सब सावधान रहें। कोई गाफिल न रहे इसलिये लक्ष्मणजी पीछे बैठे; जिसमें उनकी असावधानीपर योग्य निगरानी रखें और उसे सुधारें।

☞ पाँड़ेजीके इन भावोंको ही लेकर प्रायः आधुनिक टीकाकारोंने एवं रामायणियोंने अपने शब्दोंमें लिखा है। इस मर्मको सूचित करनेके लिये युक्तिपूर्वक क्रिया करना, किसीको सिर, किसीको कान इत्यादिकी रक्षाका भार समर्पण करना 'युक्ति अलङ्कार' है।—(वीर)

मयंककार यहाँ श्रीरामचन्द्र और रावणके आनन्दका सादृश्य दिखाते हैं। यद्यपि वह तमोगुणमें लिप्त है और श्रीरामचन्द्रजी सात्त्विक धर्ममें प्रवृत्त हैं, तथापि दोनों राजा हैं। मिलान, यथा—

लंकामें महात्मा रावण	सुवेलपर श्रीरामजी
१. रावणका लंकामें निवास	रामचन्द्रजी सुवेलशैलपर विराजमान

२. वह मन्दिरमें स्थित	ये शिखरपर शोभित
३. मन्दिर श्वेत	यहाँ शिखरकी चट्टान श्वेत
४. दोनों समतल अर्थात् बराबर हैं	
५. वहाँ अनेक प्रकारके चित्रित पट बिछे	यहाँ अनेक प्रकारके फूल-पत्ते
६. वहाँ उज्ज्वल और चमकीले जड़ाऊ बादलेकी गद्दी बनी है जिसपर लाल-लाल बूटे शोभित हो रहे हैं। उसपर रावण बैठा है।	यहाँ सर्वश्रेष्ठ अति पवित्र सुन्दर स्वर्ण-विद्रुम-रचित मृगचर्मपर रामजी विराजमान हैं।
७. वहाँ रावणके सेवकोंने बिछौने बिछाये	यहाँ शेषके प्राणस्वरूप श्रीलक्ष्मणजीने
८. वहाँ कामका घर रावण	यहाँ कृपाके सदन रामचन्द्र
९. वहाँ सुकेशी (सुन्दर केशवाली अप्सरा) की गोदमें रावणका सिर	यहाँ सुग्रीवकी गोदमें रामचन्द्रजीका मस्तक
१०. वहाँ अनेक प्रकारका गान	यहाँ हनुमदादिके वचन
११. वहाँ अप्सराओंका नृत्य	यहाँ वानरोंका अनेक प्रकारका विनोद
१२. वहाँ अनेक प्रकारका भोगसाज सजा	यहाँ धनुषबाण सजा
१३. वहाँ हाथमें कुमकुमा	यहाँ बाण
१४. वहाँ तिलोत्तमा अप्सरा कानसे लगी	यहाँ परम भक्त विभीषण कानसे लगे
१५. वहाँ उर्वशी चमर लिये पीछे खड़ी	यहाँ धनुष-बाण लिये लक्ष्मण
१६. वहाँका विषयसाज देख विषयमें प्रवृत्ति होनेसे सुखका नाश	यहाँ श्रीरामजीका ध्यान सात्त्विक भाव उत्पन्न कर सुखका सम्पादन करता है।
१७. वहाँ स्त्रियोंके विलासमें रात कटे	यहाँ सेवा, भक्ति और ध्यानमें कटे

☞ यहाँ सुवेलशैलपर सखाओंसहित झाँकी और वहाँ लंकाशिखरपर रावणका अखाड़ा दिखाकर दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिका अन्तर दिखाया है। एक शान्त है, दूसरा चञ्चल।

दो०—एहि बिधि कृपा-रूप-गुन-धाम* रामु आसीन।
धन्य† ते नर एहि ध्यान जे रहत सदा लवलीन॥ ११(क)॥

अर्थ—कृपा, रूप और गुणोंके धाम श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार विराजमान हैं। वे मनुष्य धन्य हैं जो इस ध्यानमें सदा लवलीन (निमग्न) रहते हैं॥ ११॥

☞ यहाँ ध्यानका सम्पुट दिया। उपक्रममें ***'तेहि आसन आसीन कृपाला'*** है और उपसंहारमें ***'एहि बिधि कृपा-रूप-गुन-धाम राम आसीन'*** है।

नोट १—***'कृपा-रूप-गुन-धाम'*** इति। (क) किसीको गोदमें सिर, किसीकी बातोंको कान लगाये

---

* पाठान्तर— ☞ का०, भा० दा० और रा० गु० द्वि० में उपर्युक्त पाठ है। ना० प्र०, पां०, पं० में 'करुना सील गुन धाम' पाठ है। 'ते नर धन्य' (गौड़जी) पाठान्तरके भाव ये कहे जाते हैं।

इस दोहेमें गोसाईंजी रघुनाथजीको तीन विशेषण देते हैं—'करुणा, शील और गुण। युद्धके समय करुणा और शील अति प्रतिकूल हैं और गुण सामान्य हैं? इसका समाधान यह है कि जो ऊपर चौपाइयोंमें लिख आये हैं—कपिपतिकी गोदमें सिर रखना, बाणको सुधारना, विभीषणको कान देकर उनका सम्मत सुनना और दोनों चरण हनुमान्, अंगदको देना—वह सब करुणा है। (पां०)

† पं०—करुणाधाम ऐसे कि सुग्रीव-जैसे दीनपर करुणा करके उसको कपिपति बनाया। शीलधाम ऐसे कि विभीषणको उठकर मिले और उसको प्रधान मन्त्री बनाया। और, गुणधाम ऐसे कि हनुमान्‌जीको भक्तिसहित सर्वगुण प्रदान कर दिये।

सुनते, किसीकी गोदमें चरण—यह सब कृपा ही है। यह सौभाग्य इन सबोंको आज ही प्रथम-प्रथम प्राप्त हुआ है। (ख) 'कृपारूपगुणधाम' विशेषण देनेका भाव यह भी है कि ध्यान करते समय प्रभुकी कृपा, सौन्दर्य और भक्तवत्सलादि दिव्यगुणोंका स्मरण भी करे। कृपा यह कि आज इन वानरों आदिको अपने अन्तरङ्ग गोष्ठीमें सम्मिलित कर लिया और उनको अपने समान पावन बना लिया, यथा—*'प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान।'* (१। २९) *'को साहिब सेवकहि निवाजी। आपु समान साज सब साजी॥'* (२। २९९। ५) रूपगुणधाम, यथा—*'बल बिनय बिद्या सील सोभा सिंधु इन्ह सम एइ अहैं॥'* (१। ३११ छन्द), *'भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहिं। सोभा सील रूप गुन धामहिं॥'* (७। ३०। २)

नोट—२ *'धन्य ते नर'''''* से सुग्रीवादिको अतिशय धन्य जनाया। इस झाँकीके ध्यानमें लीन रहनेवाले जब धन्य हैं तब तो इस ध्यानके अङ्गभूत हैं उनके भाग्यकी सराहना कौन कर सकता है? वे अतिशय धन्य हुआ ही चाहें।

दो०—पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससिहि मृगपति सरिस असंक॥ ११(ख)॥

अर्थ—पूर्व दिशाकी ओर दृष्टि करके चन्द्रमाको उदय हुआ देख, प्रभु सबसे कहने लगे—चन्द्रमाको तो देखो, कैसा सिंहके समान निडर है॥ ११॥

नोट—१ आज पूर्णिमाकी रात्रि है, इसीसे पूर्व दिशामें चन्द्रमा देखा। इससे पूर्व-कथित ध्यानको और स्पष्ट करते हैं। पूर्व यह न बताया था कि किस दिशामें किस अङ्गका ध्यान करना होगा। उसे यहाँ खोला कि पश्चिम दिशामें सिर है और पूर्वमें चरण, दक्षिण ओर कानके समीप विभीषणजी हैं। दक्षिणमें ही लंका नगरी है। विभीषणजीकी ओर चरणोंको गोदमें लिये वा दाबते हुए अङ्गद और बायीं ओर हनुमान्‌जी हैं। दोनों ऐसे बैठे हैं कि चन्द्रमा उनको भी देख पड़े। इससे पूर्वकी ओर पीठ होनेका निषेध हुआ। चरण-सेवामें स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता। चरण-सेवा करनेमें पूर्व-दिशामें भी दोनोंकी पीठ हो सकती है। प्रश्न होनेपर एक बार उधर सिर घुमाकर देख लिया हो यह भी हो सकता है। नोट—२ यहाँ चन्द्रमाको सिंहकी उपमा दी। आगे इसका रूपक देते हैं। यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है।

मा० म०—*'असंक'* का भाव यह है कि हमको वियोगी जानकर चन्द्रमा शीतलताको त्यागकर तापकी वर्षा करता है,यथा—*'काल निसा सम निसि ससि भानू।'* (५। १५। २) इसको हमारे बाणके आघातका डर नहीं है, अतः अशङ्क होकर उदित हुआ है और विरहाग्नि बढ़ानेको ताप बरसाता है।

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥ १॥
मत्त नागतम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥ २॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा॥ ३॥

शब्दार्थ—**कुम्भ**=हाथीके सिरके दोनों ओर ऊपर उभड़े हुए भाग। हल=समूह। *'प्रताप'* यह कि दूर होनेपर भी उसका भय ताप उत्पन्न कर दे। *'तेज'* वह कि जिसे देख भय उत्पन्न हो जाय।-१७(२) (१०) देखिये।

अर्थ—(यह चन्द्र-सिंह) पूर्व-दिशा-रूपी पर्वतकी गुफाका रहनेवाला है। परम प्रतापी, तेजस्वी और बलकी राशि है॥ १॥ अन्धकाररूपी मतवाले हाथीके मस्तकके उभड़े हुए भागको विदीर्ण (फाड़) कर यह चन्द्रसिंह आकाशरूपी वनमें विचर रहा है॥ २॥ आकाशमें छिटके हुए तारागण मुक्तासमूह हैं जो रात्रिरूपी सुन्दर स्त्रीके शृङ्गार हैं॥ ३॥

नोट—१ चन्द्रमापर सिंहका आरोप किया। सिंह कन्दरामें रहता है और पूर्ण चन्द्रमा पूर्व-दिशासे उदय होता है, इस सम्बन्धसे पूर्वदिशापर गिरिगुहाका आरोप हुआ। सिंह वनमें विचरता फिरता है और

चन्द्रमा आकाशमें, सिंह गजकुम्भको विदीर्ण करता है और चन्द्रमा अन्धकारको फाड़ देता (नष्ट करता) है अतएव आकाशपर वनका और अन्धकारपर कुम्भका आरोप किया गया। यह 'परम्परित रूपक' है। नोट—२ अर्धाली ३में भी परम्परित रूपक है। गजके मस्तकसे मुक्तामणि (गजमुक्ता) निकलती है जिससे युवा स्त्रीका शृङ्गार होता है अर्थात् स्त्रियाँ मस्तकपर मोती गुहाकर लगाती हैं, यह उनका एक शृङ्गार है। यथा—***'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥ नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥'*** (बा० १०) रात्रिमें तारागण आकाशमें रहते हैं, इनसे रात्रिकी शोभा है। अतः तारागणपर मुक्ताहलका आरोप किया गया और रात्रिपर सुन्दरीका।—(पु० रा० कु०)

नोट—३ पाण्डेजी लिखते हैं कि 'यहाँ चन्द्रमाके व्याजसे अपनी शूरता जनाते हैं, और तीन भेदसे निःशङ्कता कहते हैं।—पूर्वनिवासी चन्द्रसिंह, गिरिनिवासी सिंह स्वयं प्रभु ही और गुहानिवासी सिंह प्राकृत सिंह—ये तीनों प्रताप, तेज और बलकी राशि हैं। चन्द्रसिंह तमनागकुम्भ, गिरिनिवासी प्रभु रावण मत्तनागकुम्भ और प्राकृत सिंह प्राकृत मत्तनागकुम्भके विदीर्ण करनेवाले हैं। तीनों सिंह केशरी हैं—चन्द्रमाकी किरणें केश, रामजीके मस्तकके केश और प्राकृत सिंहकी गर्दनके केश हैं। पुनः तम-नागका तारागणरूपी मुक्ता रात्रिरूपी सुन्दरीका शृङ्गार है। रावण-नागकुम्भके निशाचरगणकी मुक्ति मुक्ताहल हैं, जो महारानीजीका शृङ्गार है और प्राकृत गजमुक्ता प्राकृत सुन्दरीका शृङ्गार है।'

वन्दन पाठकजीने भी ऐसा ही कहा है। बाबू श्यामसुन्दरदासजीने भी इसको उतार दिया है। वीरकविजी कहते हैं कि वास्तवमें इस रूपकसे कविका उद्देश्य भिन्न है; और इसमें रामचन्द्रजी अपने मुखसे अपना प्रताप वर्णन करते हैं, यह सर्वथा अयुक्त है।

रा० प्र०—निसि-सुन्दरीके शृङ्गार हेतु तारागण नभमें मुक्तागण-सरीखे छिटके हैं। भाव कि निशा सुन्दरी है, उसका मुख चन्द्र है, तारे शृङ्गारके मोती हैं, आकाश ही उसकी नीली साड़ी है।

प० प० प्र०—'मत्त नाग तम' के निर्देशसे सूचित होता है कि श्रीरामजीके मनमें रावण मत्त गजराजके विनाशके विचार छा रहे हैं। मं० श्लो० में भी '**कालमत्तेभसिहम्**' कहा है। और आगे '**जय राम रावन मत्त गज मृगराज**' कहा ही है।

२ ***'निसि सुन्दरी'*** शब्दोंसे प्रतीत होता है कि जानकीविषय विचार भी श्रीरामजीके हृदयमें प्रबल हैं। ***'सीता सीत निसा सम आई'*** कहा ही है।

३ ***'परम प्रताप तेज बल रासी'*** से सूचित किया कि श्रीरामजीके चित्तमें वीररस जाग्रत् हुआ है।

४ इन वचनोंसे वक्ता सूचित करते हैं कि वनरूपी गगनचारी रामचन्द्ररूपी केसरी, निशाचर सुन्दरीके शृङ्गार (श्रवणताटंक) गिरा देंगे और रावण मत्त गजराजका अहङ्काररूपी तम विदीर्ण करेंगे।

☞ समानार्थी श्लोक सु० र० भ० चन्द्रोदयवर्णन-प्रकरण, यथा—**मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलोच्छलत्तरलतारकागणविकीर्णमुक्तागणः। पुरन्दरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थितस्तुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते॥**' (८६)

अर्थात् अपने किरणरूपी नखोंसे टूटे हुए तिमिररूप कुम्भस्थलसे उछलते निकलते हुए वेगके साथ तारागण ही फैले हुए मोतियोंका समूह है जिसमें स्वर्ग रूप पर्वतकी दरीसे सोकर उठा हुआ तुषारकर चन्द्रमारूप सिंह आकाशरूप वनको अवगाहन कर रहा है।

कह प्रभु ससि महुँ मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई॥ ४॥

अर्थ—प्रभु बोले कि—हे भाइयो! अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार कहो कि चन्द्रमामें जो श्यामलता वा कालापन है, वह क्या है?॥ ४॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—निर्भयता इतनी है कि चन्द्रके कलङ्कपर उत्प्रेक्षा करनेकी आज्ञा हो रही है। '**काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्। व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥**' बुद्धिमानोंका समय काव्यशास्त्रके विनोदमें कटता है और मूर्खोंका समय शौकीनीमें वा सोनेमें या कलहमें बीतता है। कविने यहाँपर '**काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्**' का उदाहरण दिखलाया। आगे चलकर रावणके

नाच देखनेके व्याजसे '**व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा**' का दृश्य उपस्थित करेंगे।

पु० रा० कु०—१ यहाँ '**भाई**' आदरका सम्बोधन है। अथवा, सखाभावसे '**भाई**' कहा, यथा—'***ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे***'—(उ०)।

पु० रा० कु०—२ '**मति भाई**' में यह भी भाव है कि जो जिसको रुचता हो सो कहे।

☞ हनु० ५ में सीताविरहसे व्याकुल रामचन्द्रजीके इसी प्रकारके प्रश्न लक्ष्मणजीसे मिलते हैं। मिलान कीजिये—

रामः—'सौमित्रे दाववह्निस्तरुशिखरगतो वार्यतां निर्झरौघैः।'

लक्ष्मणः—'का वार्ता दाववह्नेरयमुदयगिरेरुज्जिहीते हिमांशुः॥'

अर्थात् हे लक्ष्मण! वनमें यह दावाग्नि तरुशाखाओंको जला रही है, इसे झरनोंके जलसे शान्त करो। यह सुनकर लक्ष्मणजीने कहा कि भगवन्! यह तो उदयाचलसे चन्द्रमा उदय हो रहा है, यहाँ दावाग्नि कहाँ? तब रामचन्द्रजी प्रश्न करते हैं कि चन्द्रमामें धूम कहाँसे आया? '**धत्ते धूमं हिमांशुः कथय कथमयम्।**' लक्ष्मणका उत्तर पाकर कि '**नैव धूमो धरण्याश्छायेयं संगताभूत्**'—यह धुआँ नहीं है, यह भूमिकी छाया है, श्रीरामचन्द्रजी जानकी-विरहसे करुणायुक्त होकर कहने लगे।

'शङ्के शशाङ्कं जगुरङ्कमेके पङ्कं कुरङ्गं प्रतिबिम्बितागम्।

धूमं च भूमण्डलमुद्धतागेर्वियोगजातस्य मम प्रियायाः॥' (२१)

अर्थात् कोई तो चन्द्रमामें चिह्नकी शङ्का करते हैं और कोई कलङ्क अथवा समुद्रका कीच कहते हैं, कोई मृगलाञ्छनयुक्त बताते हैं और कोई धूम तथा कोई पृथ्वीकी छाया भी कहते हैं। पर मैं तो इसे प्रिया-वियोगकी प्रचण्ड अग्निका धूम ही कहूँगा।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महुँ प्रगट भूमि कै झाँई॥ ५॥

अर्थ—सुग्रीव बोले—हे रघुराई! सुनिये। चन्द्रमामें पृथ्वीकी परछाईं (छाया) प्रकट हो रही है॥ ५॥

नोट—साधारणतया यह प्रभुका अपने निज भक्तोंके साथ विनोद है। उधर रावणका हासविलास और निःशङ्कता कह आये—'***परम प्रबल रिपु सीस पर तदपि न सोच न त्रास***' अब उसके मुकाबिलेमें प्रभुकी निःशङ्कता कवि दिखाते हैं। इस प्रश्नसे प्रभु इनपर अपना निजत्व, ममत्व वा अपनपौ दर्शित कर रहे हैं। '**भाई**' सम्बोधन भी कैसा प्यारा है? प्रभुका प्रश्न हुआ। उसके उत्तर यहाँ चार दिये गये हैं और इनसे पृथक् एक उत्तर स्वयं प्रभुका है। चार उत्तरोंमेंसे पहला तो सुग्रीवका है और अन्तिम हनुमान्‌जीका। ये दो नाम तो कविने स्पष्ट लिख दिये हैं, यथा—'***कह सुग्रीव सुनहु रघुराई***' और '***कह मारुतसुत सुनहु प्रभु*****''''।**' बीचके दो उत्तरोंमें नाम नहीं हैं; केवल अनिश्चयवाचक '**कोई**' और '**कोउ**' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। यथा—'***मारेहु राहु ससिहि कह कोई***' और '***कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा***'। इस स्थानपर इतना ही कह देना काफी (पर्याप्त) होगा कि उन दोनोंके नाम उनके सम्मानार्थ उनकी प्रतिष्ठाके कारण ही प्रकट नहीं किये गये। पर ऊपर दिये हुए ध्यानसे वह नाम स्पष्ट हो जाते हैं और क्रम भी बता देता है कि कौन उत्तर किसका है।

ऊपर सुवेलकी झाँकीमें क्रम यह है—१ प्रथम अर्धालीमें '***प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा***' दूसरीमें '***कह लंकेस मंत्र लगि काना***' और तीसरीमें '***बड़भागी अंगद हनुमाना***'। बस, चारकी गिनती हनुमान्‌जीपर पूरी हो गयी। झाँकीमें भी आदिमें 'सुग्रीव' और यहाँ प्रश्नोत्तर देनेमें भी प्रथम अधिकार इन्हींका है। बीचमें '**लंकेस**' और 'अंगद' झाँकीमें हैं वैसे ही प्रश्नोत्तर देनेमें भी क्रमसे '**कोई**' और '**कोउ**' यही सिद्ध होते हैं। फिर अधिकारानुसार भी सुग्रीवके पश्चात् विभीषण ही आते हैं। यह सुग्रीवके पीछेके सखा हैं, राज्य अभी प्राप्त नहीं है पर तिलक हो चुका है और प्रभु इनको लंकेश बना चुके हैं। अतः सुग्रीवके पश्चात् स्वाभाविक इनका स्थान हुआ ही चाहे। अङ्गद दास हैं पर युवराज भी हैं अतः विभीषणके बाद इनका नम्बर है। लक्ष्मणजी भी शिखरपर समीप ही हैं पर वे पहरेमें दत्तचित्त हैं और प्रभुके पीछे कुछ दूरीपर हैं।

प्रश्न सम्मुख समीपवर्तीसे ही होता है और वही उसका उत्तर देता है। लक्ष्मणजी इस प्रश्नोत्तरमें सम्मिलित नहीं हैं। यदि इन्होंने भी इसमें भाग लिया होता तो इनका नाम कवि स्पष्ट लिखते। इनकी दूरीपर और पीछेकी ओर स्थिति निःसन्देह इसका प्रमाण है कि वे इसमें सम्मिलित नहीं हुए हैं।

जिसके हृदयपर जैसा संस्कार पड़ जाता है, जो जिस परिस्थितिमें होता है, जिसकी जैसी भावना होती है एवं जिसपर जैसी बीती होती है, वैसी ही उसके चित्तकी वृत्ति भी हो जाती है, उसको वही सूझता है—कहावत है कि—*'आप बीती, जग बीती'*।

अस्तु! इसीके अनुकूल सबने उत्तर दिये हैं। यह परिस्थिति, यह अपनेपर बीती हुई भी **'कोई'** और **'कोउ'** की कुंजी है।

स्वाभाविक ही प्रथम उत्तर सुग्रीवका होना ही चाहिये। इनको सबसे उच्चासन दिया गया है। ये प्रथम शरणागत सखा हैं और राजा हैं। इन्होंने जो कारण बताया है वह वर्तमान विज्ञानके अनुसार है। दूसरा भाव इनकी परिस्थितिके अनुकूल यह है कि इनकी छिनी हुई भूमि मिली, यह संस्कार हृदयपर है ही। पुनः राज्यकी सीमा बढ़ानेपर राजाकी दृष्टि सदा रहती ही है। अतएव इनको सर्वत्र भूमि ही दीख पड़ती है।

खर्रा—सुग्रीव राज्यके लिये आतुर था एवं उसमें आसक्त हो गया था। यह रजोगुणवृत्ति है। इसीसे उसने **'भूमि'** का नाम लिया।

मारेहु राहु ससिहि कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥ ६॥

अर्थ—किसीने कहा कि चन्द्रमाको राहुने मारा था वही काला धब्बा उसके हृदयपर पड़ा है। (गहरी चोट लगनेसे चोटके स्थानपर स्यामता आ जाती ही है, काला चिह्न पड़ जाता है)॥ ६॥

नोट—१ **'कोई'**। ये विभीषणजी ही हैं, सुग्रीवके बाद ध्यानमें इन्हींका स्थान है। दूसरे, यहाँ मारनेकी बात कही गयी है और विभीषणजी रावणकी लातकी मार खाकर यहाँ आये हैं, यथा—*'तात लात मोहि रावन मारा'* इति। (विभीषण वाक्य कुम्भकर्ण प्रति) पुनः, यथा—*'अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥ तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा।'* (५। ४१) यह लातकी चोट उनको अभी भूली नहीं है। अभी क्या, वरन् कुम्भकर्णके रणभूमिपर आनेपर भी यह ज्यों-की-त्यों नयी ही बनी हुई देख पड़ती है। दो स्थलोंपर 'मारा' का प्रयोग इनके मुखसे हुआ है, एक बार पूर्व और एक बार आगे। अतएव मध्यमें यहाँ भी यह वाक्य निस्संदेह इन्हींका है। इस मारका बदला युद्धभूमिमें रावणसे विभीषणने उसकी छातीमें गदा-प्रहार करके लिया है। मा० म० एवं महादेवदत्तजी लिखते हैं कि लात जो विभीषणको रावणने मारी उसका 'लिलासावां' (नीला दाग) अबतक शरीरपर बना हुआ है। अतएव इन्हें सर्वत्र मार ही देख पड़ती है, क्योंकि इनके चित्तकी वृत्ति दागमय हो गयी है।

नोट—२ सु० र० भ० के चन्द्रवर्णन प्रकरणके तुलनात्मक श्लोक—**'तरुणतमालकोमलमलीमसमेतदयं कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति ब्रुवते। तदनृतमेव निर्दयविधुन्तुददन्तपदव्रणविवरोपदर्शितमिदं हि विभाति नभः॥'** (१६१) अर्थात् कोमल तरुण तमालके समान इस कलङ्कको चन्द्रमा धारण किये है, ऐसा जो कहते हैं वह मिथ्या है। किंतु हमारे समझमें दयारहित राहुके दाँतके छिद्रसे यह आकाश देख पड़ता है।

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥ ७॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि मग देखिअ नभ परिछाहीं॥ ८॥

अर्थ—कोई बोला कि जब ब्रह्माने कामदेवकी स्त्री रतिका मुँह बनाया (तब उसके योग्य सुन्दरता कहीं न देखी, एक चन्द्रमामें ही देख पड़ी, अतएव) तब चन्द्रमाका सार-भाग निकाल लिया॥ ७॥ वही छेद चन्द्रमाके हृदयमें दिखायी पड़ता है जिसकी राहसे (उस पार) आकाशकी (नीली) परछाहीं उसमें दिखायी पड़ती है॥ ८॥

नोट—१ 'कोउ' का इशारा अब अङ्गदजीकी ओर है।* क्योंकि ये ही चारमेंसे रह गये हैं। मा० म० और उस परम्परावालोंका मत है कि 'यह वाक्य जाम्बवान्‌का है; क्योंकि उनकी तरुणाई चली गयी, इसीसे उनके चित्तकी वृत्ति वृद्धतामय साररहित हो गयी है।'† पर मानसकारके लेखमें शिखरपर छः व्यक्तियोंको छोड़ और किसीका नाम नहीं आया है। यदि जाम्बवन्त भी समीप होते तो, वृद्ध मन्त्री होनेके कारण, उनका नाम अवश्य आता और उनका स्थान भी बताया गया होता; पर ऐसा उल्लेख न होनेसे निश्चय है कि इस 'अन्तरंग सभा' में वे सम्मिलित नहीं किये गये हैं। इसी तरह कोई महानुभाव 'कोउ' से 'नील-नल' को लेते हैं। पर मानसकारके शब्दोंसे यह भाव प्रमाणित नहीं होता। मानस और हनुमन्नाटकका मत एक है—११ (५-६) में देखिये।

वाल्मीकिजीके अनुसार लक्ष्मणजी, अपने-अपने मन्त्रियोंसहित सुग्रीव और विभीषणजी, हनुमान्‌जी, अङ्गदजी और नील, गज, गवाक्ष, द्विविद, जाम्बवन्त आदि सब शृङ्गपर गये—(वाल्मी० यु० ३८। ४। ९) पर वहाँ इस झाँकी और इस अन्तरङ्गका नामनिशान भी नहीं है; इसलिये इस प्रकरणके भाव वाल्मी० रा० के आधारपर नहीं कहे जा सकते।

अब अङ्गदकी परिस्थिति देखिये। किष्किन्धाकाण्डमें भी लिखा जा चुका है कि वालीने सुग्रीवको मारकर निकाल दिया। इसका कारण एक यह भी है कि अङ्गद राज्यका उत्तराधिकारी था, उसके रहते सुग्रीव स्वयं राजा बन बैठे थे। अङ्गदके जीमें यह बात खटकती ही होगी कि जिसका मैं अधिकारी था वह मुझे न मिलकर दूसरेको दे दिया गया, मैं केवल युवराज बनाया गया। यही 'सार भाग' का अपहरण है। *'छिद्र सो प्रगट'* जनाता है कि इनके हृदयमें मानो छेद हो गया है। वही अपनी बीतीके अनुसार उत्तर दिया है।

प० प० प्र०—अङ्गद युवराज हैं, पर *'दास अङ्गद कीजिये'* के अनुसार अङ्गदजी दास भी हैं। अतः मानसमें जहाँ अङ्गद और हनुमान्‌जीका उल्लेख एकत्र किया गया है वहाँ बहुधा (युवराज होनेके कारण) अङ्गदको प्रथम कहा है। यथा—*'अंगद हनू समेत', 'सुनहु नील अंगद हनुमाना', 'अंगद हनुमत अनुचर जाके', 'अगंद अरु हनुमंत प्रबेसा',* इत्यादि। अतः विभीषणजीके बाद अङ्गदजीका ही अधिकार उत्तर देनेका है।

उत्तरकाण्ड १७ (६-८) में भी सुग्रीव, लङ्कापति और अङ्गदका उल्लेख करके तब जाम्बवन्तादिका उल्लेख किया गया है। यथा—*'सुग्रीवहि प्रथमहि पहिराए।', 'प्रभु प्रेरित लछिमन पहिराए। लंकापति रघुपति मन भाए।', 'अंगद बैठ रहा नहिं बोला।'* वही क्रम यहाँ भी लेना उचित है।

श्रीहनुमान्‌जीका श्रीरामजीके पीछे उत्तर देना भी अनन्य सेवककी मर्यादाके अनुकूल ही है। सेवक अनुगामी होता ही है।

नोट—२ ☞ *'सारभाग ससिकर हरि लीन्हा'* इति।—इसी तरह १। ३२४ में श्रीसुनयनाजीके विषयमें कहा है, यथा—*'सुजस सुकृत सुख सुन्दरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई॥'* पं० रामकुमारजीने समानार्थी यह श्लोक कहींका दिया है—

'ब्रह्मणा रतिमुखं चिकीर्षता संगृहीतममृतं विधोस्तदा।
तेन छिद्रमभवद्धि तद्यथा दृश्यते गगनविम्बनीलता॥'

काव्यप्रभाकरमें इसीको लेकर यह दोहा रचा गया जान पड़ता है—

'लीन्हों राधामुखरचन विधिने सार तमाम। तेहि मग होइ अकास यह ससि में दीखत श्याम॥'

---

* वंदन पाठकजीका मत है कि ये 'ये वचन अङ्गदके हैं। इनको 'पुरुषार्थ'—भाग सौंपा गया है; अतः इन्हें रावणको मारना ही सूझता है। इसीसे 'मारेहु राहु ससिहि' इन्होंने कहा'। पर अङ्गदको लेनेसे प्रधानताका क्रम भङ्ग होता है। पाण्डेयजी लिखते हैं कि 'किसीने राहु-चन्द्रमाका समर कहा। इससे कहनेवालेमें वीरता और समरका उत्साह सूचित हुआ'।

† रा० प्र०-कार इसे किसी शृङ्गारी तरुण अनुरागीकी उक्ति कहते हैं। वे किसीका नाम नहीं देते। पर इन्हें अङ्गदके बचन माननेवालोंको यह भाव अङ्गदमें ग्रहण करना अनुचित होगा, क्योंकि वे तो परम अनुरागी चरणसेवक हैं; इसीसे 'बड़भागी' की उपाधि उनको दी गयी है।

यहाँ रतिकी अतिशय सुन्दरता कार्यरूप है। उसे न कहकर उसका कारण (चन्द्रमाका सार भाग) कहना कारणके मिष कार्यकथन करना 'कारणनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार है।—(वीर)

प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥ ९ ॥
बिष संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी॥ १०॥

शब्दार्थ—*केरा*=का। *संजुत* (संयुक्त)=सहित, मिला हुआ। *कर*=किरण।

अर्थ—प्रभु बोले कि विष चन्द्रमाका अत्यन्त प्रिय भाई है, इसीसे उसने विषको अपने हृदयमें वास दे रखा है॥ ९॥ एतावता विषसंयुक्त अपने किरण-समूहको फैलाकर विरही नर-नारियोंको जलाता रहता है॥ १०॥

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजीके वचनका तात्पर्य यह है कि माघ (यह पौषकी पूर्णिमा है) महीनेमें भी चन्द्रमामें शीतलताका लेश नहीं, यह विषसंयुक्त किरणोंसे जला रहा है। यहाँ '**नर**' '**नारी**' से अपनेको और श्रीजानकीजीको सूचित किया। भाव यह कि यदि यह श्यामता उसके अति प्रिय बन्धु गरलके निवासके कारण न होती तो वह हमारे हृदयको जलाता न, वरन शीतल करता। अतएव यह दण्डके योग्य है।

पं० रा० व० श०—प्रभुके हृदयमें अति प्रिय बन्धु भरतका वास है, यथा—'*जग जपु राम राम जपु जेही*'। अतः चन्द्रमामें उसके अति प्रिय बन्धुका वास कहा। और, प्रियाकी विरहाग्नि है, इसलिये जलाना कहा। यहाँ 'असिद्धविषयागम्य हेतूत्प्रेक्षा' है।—(वीर)

नोट—१ '*गरल*' को चन्द्रमाका '**अति प्रिय बंधु**' कहा; क्योंकि दोनों क्षीरसागर-मन्थनसे निकले, यथा—'*जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक।*' (१। २३७) सहोदर भ्राता है, अतः अतिप्रिय है, यथा—'*मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।*' (६०। ८)

२—चन्द्रको देखकर श्रीजानकी-वियोग विरहका उद्दीपन हुआ। प्रभु विरही हैं। अतएव इन्होंने अपनी स्थितिके अनुसार श्यामताको विष बताया।

रा० प्र०—भाव यह कि विष और शशि भाई हैं। दोनों समुद्रसे उत्पन्न हुए। हमने इनके पिता समुद्रपर सेतु बाँधा, इसीसे उसने हमसे वैर मान लिया और अपने भाईकी सहायता लेकर हमको जला रहा है।

'चन्द्रं वीक्ष्य जगाद चन्द्रवदना श्रीरामचन्द्रं स्मरन् चन्द्र त्वं विषसोदरो हि गरलोऽतिष्ठत् त्वयि प्रेमतः।
तच्छङ्के विषसंयुतैः स्वकिरणैः कान्ताविहीनान् जनान् कष्टं संजनयत्यपि त्वयि ततस्सद्धर्मता स्यात्कुतः॥'

सीताशृङ्गारचम्पू ग्रन्थके इस श्लोकसे मिलान कीजिये। वहाँ—चन्द्रमाको देखकर चन्द्रवदना श्रीविदेहकुमारीजीने श्रीरामजीका स्मरण करते हुए कहा है—हे चन्द्र! तू विषका सहोदर भ्राता है और गरल तुझको प्रिय है, इसलिये वह प्रेमसे तुझमें रहता है। इसीसे अनुमान होता है कि विषसंयुक्त अपनी किरणोंसे कान्ताविहीन जनोंको तू कष्ट देता है; तब तुझमें सद्धर्मता कहाँसे कही जा सकती है?

दो०—कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज* दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता† अभास॥ १२ (क)॥

शब्दार्थ—**अभास** (आभास)=प्रतिबिम्ब, छाया, झलक। **निज**=खास, सच्चा। भासना=प्रतीत होना, ज्ञात होना।

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी बोले—हे प्रभो! सुनिये, चन्द्रमा तो आपका खास दास है। आपकी (साँवली) मूर्ति चन्द्रमाके हृदयमें बसती है, वही आपकी श्यामताकी चन्द्रमामें झलक है॥ १२ (क)॥

नोट—१ '*प्रभु*' का भाव कि आप समर्थ हैं, आप अमरको भी मारकर फिर उसे जिला सकते हैं, यथा—'*प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई।*' (लं० ११३) पर चन्द्रमा तो आपका खास दास है।

नोट—२ '*निज दास*' इति। रूपके हृदयमें बसने-बसानेके कारण '*निज दास*' कहा। (बं० पा०)

* प्रिय दास—(मा० म०, बं० पा०)। † स्यामता भास—(का०)।

पं० शिवलाल पाठकजी लिखते हैं कि चन्द्रमा *'निजदास'* इस तरहसे है कि—(क) सुषेण वानर चन्द्रमाका अवतार है। सुग्रीवका यह श्वशुर है। चन्द्रमाने सुषेणको सुग्रीवका सखा किया और रुमाके मिलनेकी आशा दी। सुग्रीव आपके सेवक हैं, अतः चन्द्रमा भी आपका दास हुआ। (ख) आप साकेतमें शशिमुद्रामें वास करते हैं। अतएव वह सेवक सिद्ध ही है। (ग) शिवजी आपके परम प्रिय हैं। वे इसको मस्तकपर बसाये हैं। इस तरह भी यह दास ही है।

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि उत्पन्न होनेसे आत्मा ही है। आत्मा होनेसे प्रियत्व सिद्ध है।

श्रीकरुणासिंहजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जीके वचनोंमें यथार्थ युक्ति है; क्योंकि रामजीके विहारके समय पुरुषवर्ग एक चन्द्रमा ही रहता है। इसलिये उसको 'प्रिय दास' कहा।

नोट—३ *'मूरति'* शब्दसे देवभाव सिद्ध हुआ। (अर्थात् परब्रह्म परमात्मा जानकर बसाया है।) अतएव स्थापन आवश्यक है। (अर्थात् मूर्तिकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसकी स्थापना होती है। आपकी मूर्तिकी स्थापना चन्द्रमाने हृदयस्थलमें की है)। हनुमान्‌जीने अपने ध्यान और उपासनाके भावसे, 'श्यामता' क्या है, इसका उत्तर दिया। (बं० पा०)

नोट—४ श्रीहनुमान्‌जी प्रभुके अनन्य भक्त हैं। प्रभु उन्हें स्वयं अनन्यताका लक्षण उपदेश कर चुके हैं। यथा—*'सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* (कि० ३) उस उपदेशके अनुसार वे चराचरमात्रमें प्रभुहीको देखते हैं। अतएव वे चन्द्रमें भी प्रभुहीको देख रहे हैं। दूसरे, (ख) उनके हृदयागारमें सदा धनुर्धर प्रभुका निवास रहता है, यथा—*'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।'* (१। १७) अतएव वे दूसरोंके हृदयमें भी प्रभुका निवास समझते हैं। इसी विचारसे विधुके 'उर' में प्रभुकी मूर्तिका बसना कहते हैं। इस प्रकार हनुमान्‌जीने जो विचार श्यामताके विषयमें प्रकट किया वह उनकी चित्त-वृत्तिके ही अनुकूल है।

श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामजीके पीछे अपना विचार प्रकट किया। अङ्गदके बाद ही क्यों न कहा? यह प्रश्न उठाकर महानुभावोंने अनेक प्रकारसे उत्तर भी दिये हैं।

बंदन पाठकजी कहते हैं कि—सबका बोलना केवल व्यावहारिक है और इनका पारमार्थिक। अथवा श्रीरामजीके भी पीछे कहा, क्योंकि *'राम ते अधिक राम कर दासा'*। और, किसीका मत है कि बारी हनुमान्‌जीकी थी पर श्रीरामजी ही स्वयं बोल उठे।

मा० म०—श्रीरामजीके मतको मिटाकर हनुमान्‌जीने अपना मत स्थापन किया। इस मतान्तरको सत्य न समझो क्योंकि हनुमान्‌जीने देखा कि श्रीरामचन्द्रजी चन्द्रमाको मारनेके लिये उद्यत हैं, अतएव ऐसा वचन कहकर चन्द्रमाको वध करनेसे श्रीरामचन्द्रजीको बचाया।

बाबा हरीदास—सबने अपनी-अपनी मतिके अनुसार 'श्यामता क्या है?' इस प्रश्नका उत्तर दिया। श्रीरामजीने भी अपना मत कहा। वह यह कि इसके अत्यन्त प्रिय भाई विषका इसके हृदयमें निवास है, इसीसे विष मिली हुई किरणोंसे यह विरही नर-नारीको जलाता है।

जब रघुनाथजीने चन्द्रमामें अभिमानरूपी दोष दिखाया कि वह *'मृगपति सरिस असंक'* होकर मुझ विरहीके हृदयको दग्ध कर रहा है, मेरा इसको किंचित् भय नहीं है, तब चन्द्रमापर प्रभुकी दोषान्वेषक कड़ी दृष्टि और प्रभुके बायें ओर धनुष रखा हुआ एवं करकमलोंमें तीक्ष्ण बाण देख हनुमान्‌जीने विचार किया कि कहीं ऐसा न हो कि प्रभु चन्द्रमापर बाण छोड़ दें और वह मरकर पृथ्वीपर आ गिरे। मेरा कर्तव्य है कि मैं ऐसी युक्तिका उत्तर दूँ कि उससे प्रभु प्रसन्न हो जायँ, चन्द्रदेव बच जायँ और यह उसके बदले शत्रुपर छोड़ा जाय। अतएव उन्होंने कहा कि शशि आपका निजदास है, इत्यादि।

रा० प्र०—उत्तम सेवक हनुमान्‌जीने स्वामीकी बातसे विरुद्ध क्यों कहा? इसका समाधान यह है कि प्रभुने वियोगाभाससे चन्द्रमाको दोषी ठहराया। बाण सुधारते हैं, उसपर कहीं चला दिया तो वह नष्ट हो जायगा। चन्द्रमा बिना अपराध मारा गया तो स्वामीको कलङ्क लगेगा। अतः उन्होंने दोनोंकी रक्षाके लिये ऐसा कहा।

बाबा जयरामदासजीने लिखा है कि 'अब (अङ्गदके बाद) हनुमान्‌जीके बोलनेकी बारी थी। प्रभुने देखा कि मैंने तो चन्द्रमाके दोष पूछे थे (जो कालिमाके प्रश्नसे स्पष्ट है), सबको धब्बेका लक्ष्य कराया था, पर इन तीनोंने तो उसे अमल, चोट खाया हुआ और सार छीना हुआ, दीन-दुःखी बताकर निर्दोष बना दिया, इनका मत मेरे अनुकूल नहीं हुआ, इन्होंने तो अपनी-अपनी स्थिति ही स्पष्ट की, अतः बीचमें ही अपने मतका लक्ष्य करवाकर श्रीहनुमान्‌जीके मतको अपने अनुकूल कर लेना चाहिये। इसलिये सरकार बीचमें ही बोल उठे।—*'प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा।'''''''*

अब पाँचवें नंबरवाले श्रीहनुमान्‌जीकी सम्मति सुनिये। इन्होंने विचारा कि यह बड़ा ही गूढ़ प्रसंग उपस्थित हुआ। इधर प्रभुके हाथोंमें बाण सुधर रहा है और उधर चन्द्रमापर उनकी दोषान्वेषक दृष्टि पड़ रही है। स्वामी शायद अपने दलको ऐश्वर्य दिखलाकर निर्भय करनेके लिये इस बाणसे असली चाँदकी चाँदमारी कर फिर उसे ज्यों-का-त्यों बना दें। अवश्य ही प्रभु सर्वसमर्थ हैं, उनकी शक्ति अघटितघटनापटीयसी है, परन्तु विचार इस बातका है कि—*'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजनम कर हेतु॥'''''*

जब *'सुरन्हको थापना'* (दैवी विभूतिकी रक्षा करना) रामजन्मका हेतु है, तो चन्द्र देवतापर अस्त्र चलाना कैसे उचित हो सकता है? भगवान् ऐसा कभी नहीं करेंगे। वास्तवमें प्रभु हम सब मन्त्रियों और सेवकोंकी बुद्धिकी परीक्षा कर रहे हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् यह भी एक मर्यादाकी लीला करके दिखला रहे हैं कि मन्त्री अपने राजाको किस प्रकार उचित मन्त्रणा देकर यथार्थ कार्य करते हैं। अतएव मुझे ऐसी राय देनी चाहिये कि चन्द्रमा निर्दोष सिद्ध हो और प्रभु भी प्रसन्न रहें। '''''''श्रीहनुमान्‌जीके कथनानुसार चन्द्रमा प्रभुका दास सिद्ध हो गया, इससे अब सिवा इसकी रक्षाके उसपर अस्त्रप्रयोगकी तो कोई बात ही नहीं रह गयी।'''''''सुजान' विशेषणद्वारा सरकारकी अमित सुबोधताको सूचित किया, हनुमान्‌जीके परम चातुर्यके भावको जानकर उनकी सम्मति स्वीकार करते हुए सरकार परम प्रसन्न हुए और उस सुधारे हुए बाणको काममें लानेके लिये चन्द्रमापरसे अपनी दृष्टिको हटाकर दक्षिण दिशाकी ओर दृष्टि डाली।' (कल्याण ५। ४। ७१०—७१२)

प० प० प्र०—प्रभुकी आज्ञा थी कि *'कहहु निज निज मति भाई',* अतः ठकुरसुहाती कहना सच्चे सेवकका धर्म नहीं है। अतः सबने अपनी मतिके अनुसार ही कहा। इसमें स्वामीकी मतानुकूलताका विचार अनावश्यक है।

गौड़जी—इस प्रसंगमें लोगोंने जो यह भाव प्रकट किया है कि प्रभुके आसन्न क्रोधकी शान्तिके लिये भगवान् मारुतिने विभिन्न मत प्रकट किया है, उसमें प्रभुकी मर्यादाका विचार न किया। प्रभुके स्वाभाविक गम्भीर्य-विचारशीलता आदि ऐश्वर्यके गुणोंमें ऐसी उतावली और मोह-क्रोधका आरोप भारी धृष्टता है और इस प्रसंगके समझनेमें अरसिकता। थोड़ी देरके लिये भगवान् विश्राम कर रहे हैं और उसी समय सखाओंसे विनोदपूर्ण बात-चीत हो रही है। बाण जो सुधार रहे हैं वह तो अभी काममें आयेगा ही। इसमें चन्द्रमाको कोई भय नहीं है। इसी विनोदपूर्ण वार्तालापमें प्रभुने जो चन्द्रमाके बहाने विरहकी याद की वह तो ध्वनिसे आगे निःशङ्क शत्रुपर बाण चलानेके लिये प्रेरक थी। भगवान् मारुतिने इस विनोदको बड़ी चतुराईसे आगे बढ़ाया और अपनी उक्तिसे यह ध्वनित किया कि विरहका कारण तो और ही कोई है, चन्द्रमा गरीब तो आपका दास है। जो विरहका कारण है, उसकी ओर दक्षिणमुख बैठा हुआ चरण दाबनेवाला दास युक्तिसे इशारा करता है। विभीषणजीने भी अपनी युक्तिमें अपनी दुर्दशाका इशारा किया है। इसीसे अब प्रभु दक्षिणकी ओर दृष्टि फेरकर विभीषणको सम्बोधन करके पूछते हैं। लंकाके सम्बन्धमें इन्हीं दोकी तो जानकारी है।

वे० भू०—श्रीगोस्वामीजीसे कोई सौ वर्ष प्रथमके महाकवियोंने चन्द्रमाकी मेचकताको लेकर बड़ी सुन्दर-सुन्दर उक्तियाँ लिखी हैं। जैसे विक्रमकी बारहवीं शताब्दीमें कविताकामिनीके हर्षरूप श्रीहर्षने अपने परमप्रसिद्ध नैषधमहाकाव्यमें **'हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा। कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरनीलनीलिमम्॥** (नैषध २। २५) लिखा है। *'सारभाग शशिकर हरि लीन्हा।'* नैषधके इस श्लोकका अनुवादमात्र मालूम होता है। केवल 'दमयन्ती' की जगह 'रति' बदला है। इसी तरह श्रीहर्षसे भी पूर्ववर्ती महाकवि बिल्हणने

'ससि तुम्हार प्रिय दास। तव मूरति तेहि उर बसै……।' का सांगरूपक ही वर्णन किया है।

'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः॥'

श्रीविश्वनाथ कविराजने तो इस श्लोकको प्रथमापह्नुति (अपह्नवपूर्वक ओराप) का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण साहित्यदर्पणमें माना है।

मा० हं०—यह वर्णन वाल्मीकि, अध्यात्म, हनुमत्प्रसन्नराघवादि नाटकोंमें नहीं मिला। यदि यह कविकल्पना अनुच्छिष्ट हो तो गोसाईंजीपर कविमण्डन, कविकेसरी, कविकुलावतंस इत्यादि पदवियोंकी वर्षा आज भी हुए बिना नहीं रह सकती।

बाबा जयरामदासजीके भाव ऊपर आ चुके हैं। मा० म०,रा० प्र० और शिलाके भावोंके अनुसार इसका कारण यह है कि तीनके विचार जो सुने उनमें कोई बात ऐसी न थी कि ये अपना विचार प्रकट करनेमें शीघ्रता करते; पर जब चन्द्रमापर सरकारकी कड़ी निगाह देखी तब तुरंत बोले। यह भाव 'मारुतसुत' पदसे प्रकट होता है।

वर्तमान सम्पादक गौड़जीसे सहमत हैं। वे कहते हैं कि हनुमान्‌जी बड़े उत्कृष्ट कवि और दास हैं। इन्होंने अङ्गदके बाद जान-बूझकर कुछ न कहा। वह तो प्रभुका वास्तविक अभिप्राय ताड़ रहे थे। प्रभुके कहनेपर ही इनके बोलनेका मौका आया और उसीके अनुकूल इन्होंने ध्वन्योक्ति की।

हनुमान्‌जीका दास्यभाव बहुत उत्कृष्ट है। स्वामी अभी नहीं बोले हैं। उनके क्या विचार हैं, वे क्या कहेंगे इसका भी पता नहीं है। स्वामीके पहिले ही सेवक बोल उठे, यह सेवक-स्वामी-भावके प्रतिकूल होगा। अतएव उनका अन्तमें बोलना ही युक्तियुक्त है।

यह प्रश्न हो सकता है कि यह क्योंकर उन्होंने समझ लिया कि प्रभु अवश्य कुछ कहेंगे। इसका उत्तर यह है कि यह प्रभुका अन्तरङ्ग खास दरबार है। प्रभु निजभक्तोंके साथ विनोद कर रहे हैं। यथा—*'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति-नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥'* (लं० ११६)' सबका मत पूछते हैं, अतएव आप भी अवश्य अपना मत कहेंगे।

☞ रसचन्द्रिकाका निम्न श्लोक इसी भावका है—

'केऽप्यङ्कं केऽपि पङ्कं वदत सुकवयः केऽपि शङ्कुंशशाङ्के छायां केऽपि क्षयं के क्षपिततरदृशः कज्जलं के विलङ्के।
शङ्के सर्वान्तरस्थः स्फुरति च सततं सान्द्रनीलाम्बुदाभः श्रीवत्साङ्कः कृपावानुपदिशति जनान् बोधयन्नात्मतत्त्वम्॥'

अर्थात् कोई कवि चन्द्रमामें चिह्न बतलाते हैं, कोई पङ्क कहते हैं, कोई कील गड़ी हुई बताते हैं, कोई छाया कहते हैं, कोई छिद्र कहते हैं और कोई केवल कज्जल कहते हैं; पर मैं अनुमान करता हूँ कि सान्द्रनीलमेघके समान कृपावान् श्रीवत्साङ्क भगवान् चन्द्रमामें निरन्तर स्फुरित होकर अपने जनोंको अपना तत्त्व बोधन करा रहे हैं।

सि० ति०—यहाँका यह विनोद गूढ़ अभिप्राययुक्त है। परमार्थपक्षमें श्रीसुग्रीवजी ज्ञानस्वरूप हैं, इसीसे ज्ञानमय सूर्यके पुत्र कहाते हैं। विभीषणजी जीवरूप और श्रीहनुमान्‌जी प्रबल वैराग्यरूप हैं। सब वानर शम-दमादि साधनरूप एवं उनके नेता श्रीअङ्गदजी सत्त्वगुणरूप हैं। प्रमाण—*'ज्ञानसुग्रीव कृत जलधि सेतू। ……जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषण'''प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन तनय……कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट……'* (वि० ५८) श्रीसुग्रीवजीने अपने हृदयपर भूमिकी छाया कही है। इससे रक्षाके लिये युद्धोपरान्त उ० दो० १६ में श्रीरामजी उन्हें श्रीभरतजीसे भूषणवस्त्र पहनवाकर राज्य करनेके लिये भेजेंगे। तब उन्हें शुद्ध कर इसका भय मिटावेंगे। पृथिवीके अंशसहित बुद्धिकी उत्पत्ति कही गयी है, यथा **'बुद्धिर्जाता क्षितेरपि'** (जिज्ञासापञ्चक) बुद्धिके द्वारा ज्ञान होता है। बुद्धिका ज्ञातृत्वाभिमान ही यहाँ भूमिकी छाया है। श्रीभरतजी परम विवेकी हैं, उनकी माताने उनके लिये भूमिका भोग माँगा, पर अपनी वृत्तिसे वे उसके वरको पूरा करके भी निर्विकार बने रहे। वैसे ही वृत्तिसहित रहनेके लिये श्रीभरतजीका सारूप्य बनाकर श्रीसुग्रीवजीको

किष्किन्धा भेजेंगे। श्रीविभीषणजी जीवरूप हैं। इन्हें पूर्व जन्ममें कालकेतुरूपी राहुने हरण करके इस राक्षसयोनिमें प्राप्त कराया। यथा *'जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसिराहू। १। १५६।'* उसी काल-बाधाको राहुके प्रहाररूपमें इन्होंने ऊपर कहा है। इनकी इस बाधासे रक्षाके लिये उत्तरकाण्डमें श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजीसे वस्त्राभूषण पहनवाकर श्रीलक्ष्मणजीकी वृत्तिसे रहनेके लिये इन्हें लङ्का भेजेंगे कि वहाँ अहर्निश प्रभुसेवापरायण होकर रहें, तब काल बाधा न लायेगा। पुनः सत्त्वगुणमें प्रकाशत्त्व श्रीरामजीका है, यथा **'सत्वं सत्त्ववतामहम्।'** (गीता १०। ३६) पर ज्ञानी यदि इसका अभिमानी होता है तो उसमें विकार प्राप्त होता है। यही अङ्गदजीको सुग्रीवजीका भय है। इससे श्रीरामजीने अङ्गदजीको अपना भूषण-वस्त्र स्वयं पहनाकर अपना सारूप्य करके भेजा। उ० दो० १८ देखिये कि इससे सुग्रीवजी तुम्हें मेरा रूप देखेंगे, तब उक्त भय न होगा। पुनः ऊपर जो सार भाग हरण एवं राज्यसे निराशताका संदेह था, उसे भी दूर करेंगे कि सुग्रीवजी तुम्हें मेरा रूप देखते हुए यौवराज्य हरण न कर सकेंगे। शेष जाम्बवान् आदि अङ्गदजीके अनुयायी हैं, ये भी सत्त्वांश हैं। यथा—*'कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट॥'* (वि० ५८) इसीसे अङ्गदजीकी तरह मानकर इन्हें भी स्वयं श्रीरामजीने स्वयं वस्त्राभूषण पहनाकर अपना सारूप्य दे करके भेजा। श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें अनन्य भक्ति ही यहाँ पायी गयी, इसीसे आगे प्रभुने इन्हें विदा नहीं किया, सेवामें ही रखा है।

दो०—पवनतनय के बचन सुनि बिहँसे राम सुजान।
दच्छिन दिसि अवलोकि प्रभु बोले कृपानिधान॥ १२(ख)॥

अर्थ—पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जीके वचन सुनकर सुजान श्रीरामचन्द्रजी हँसे और दक्षिण दिशाकी ओर देखकर दयासागर प्रभु (विभीषणजीसे) बोले॥ १२(ख)॥

नोट—*'पवन तनय'* शब्दसे जनाया कि जैसे पवनदेव बुद्धि-विवेक-विज्ञान-निधान हैं, वैसे ही उनके पुत्र हनुमान्‌जी हैं। यथा—*'पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥'* (४। ३०। ४) इनके वचन बुद्धि-विवेकयुक्त हैं।

प्र० स्वामीजी कहते हैं कि प्रथम 'हनुमंत' (*'कह हनुमंत सुनहु प्रभु'*...) शब्दसे सूचित किया कि वे कुछ अद्भुत बात कहेंगे और फिर यहाँ *'पवन तनय'* शब्द देकर जनाया कि अंजनीनन्दनके वचन *'अनन्य भक्ति'* मय होनेसे पावनताका विस्तार करनेवाले हैं।

पु० रा० कु०—*'बिहँसे राम सुजान'* इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीकी बुद्धिकी परम चतुरता देखकर *'बिहँसे'* यथा—*'परम चतुरता श्रवन सुनि बिहँसे राम उदार।'* (३७) क्यों न हो, वे बुद्धिमान् पवनके ही तो पुत्र हैं। पुनः हँसे कि अपनी स्थिति, चित्तकी वृत्ति एवं सच्ची भावनाके अनुसार उत्तर दिया है। जैसे इनके हृदयमें मेरा निवास है, वैसे ही ये सबके हृदयमें जानते हैं। (पं०) वा, हँसकर परम अनुग्रह प्रकट किया, यथा—*'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥'* पुनः हँसकर इनके मतिको अङ्गीकार किया। [श्रीरामजी अपने भक्तकी अलौकिक प्रीति देखकर भी हँसते हैं। यथा—*'मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।'* (प० प० प्र०) (ख) *'राम सुजान'* राम हैं, सब प्राणियोंमें रमण करते हैं। अतः सबके हृदयकी जानते हैं। पुनः, *रमु क्रीडायाम्। 'राम'* पद देकर जनाया कि यहाँ प्रभु अपने भक्तोंके साथ क्रीड़ा (विनोद) कर रहे हैं। दोहा ३७ देखिये। सुजान, यथा—*'स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥'* (अ० ३१४। ३)

गौड़जी—भगवान् मारुतिके वचन सुनकर *'बिहँसे'* का भाव यह है कि और मतदाताओंने संकेत न समझा, पर हनुमान्‌जीने ही संकेतको समझा है। इसी भावसे मुसकराकर उन्होंने दक्षिण दिशाकी ओर निगाह फेरी। सामने विभीषण हैं, इसीलिये वह विभीषणको ही सम्बोधन करते हैं। लेटनेपर स्वभावसे ही निगाह ऊपरको ही जाती है, दिशा चाहे जो हो। परंतु जिस प्रकार प्रभु लेटे हुए हैं, उससे पहले पूरबमें ही निगाह जाना स्वाभाविक है।

२—'*दच्छिन दिसि अवलोकि प्रभु*''''' *इति।* (क) बाण अभी करकमलोंमें है। चन्द्रमाकी ओरसे दृष्टि हटाकर अब सिरको दक्षिण ओर किंचित् झुकाकर देखने लगे, दक्षिण ओर ही लङ्कानगरी है। वस्तुतः जिस लिये वह बाण प्रभुके करकमलोंमें लक्ष्मणजीने दिया था या स्वयं प्रभुने लिया था, जिस लिये वह सुधारा जा रहा था, वही उद्देश्य पूरा करनेके लिये, अब पूर्वका विनोद समाप्तकर शत्रुपर दृष्टि जमायी गयी। (ख) जिस विचारसे दक्षिणकी ओर देखा, उसके लिये आप समर्थ हैं, अतः '**प्रभु**' पद दिया। (ग) '***कृपानिधान***' इति। बोलनेमें '***कृपानिधान***' कहा। क्योंकि अब जो करनेवाले हैं उससे विभीषण एवं रावणपर कृपा सूचित हो रही है। एक तो विभीषणसे पूछना ही कृपा है, यथा—'***संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई॥***' अ० १३। दूसरे रावणके मुकुटादि गिराकर विभीषणपर विशेष कृपा करनेको हैं और रावणपर कृपा यह है कि उनके बाण-प्रतापको समझकर अब भी वैर छोड़कर शरणमें आ जाय तो प्राण बच जायँ।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जीने बड़ी दूरकी बात कही जय-विजयकी याद दिलायी। और सरकार सुजान हैं, उसकी कदर करनेवाले हैं, इसलिये हँसे और कृपानिधान हैं, हनुमान्‌जीके इङ्गितके अनुसार रावणपर कृपा करना चाहते हैं, अतः पूर्वकी ओरसे मुड़कर दक्षिणकी ओर देखा, और विभीषणको घटाका उठना, बिजलीका चमकना और बादलका गरजना दिखलाया, जिसमें विभीषण सब भेद कहें और लोग तो वही समझते थे, जो सरकार कह रहे हैं, अतः उन लोगोंको सम्बोधन नहीं किया। इस समय सरकार शत्रुको अपनी बनैती दिखाना चाहते हैं, जिसमें उसका माथा कुछ ढीला हो और अपनी सेनामें उत्साह हो कि सरकार यदि चाहते तो शत्रुका सिर यहीं बैठे-बैठे काट देते, पर नहीं काटा। यदि वे अपशकुन समझ करके भी सीता प्रदान कर दें तो उनका कल्याण हो जाय। अतः 'कृपानिधान' पद दिया।

प० प० प्र०—इस दोहेके पूर्वार्धमें पूर्व-विषयका उपसंहार करके उत्तरार्धमें ही अगले विषयका उपक्रम कराकर यह भाव सूचित किया कि भगवान्‌ने चन्द्र-कलङ्क-विषयक जो प्रश्न किया था इसमें भी रावणविषयक कल्पना ही मुख्य थी। अतः एकका उपसंहार और दूसरेका उपक्रम एक ही दोहेमें किया।

'शशि-मेचकताई'-प्रश्नका रहस्य

पाँड़ेजी आदिका मत है कि जो कार्यभार प्रभुने इस सभाके लोगोंको सौंपा था उसकी यहाँ प्रश्नद्वारा परीक्षा ली है—मा० शं०—शशि-श्यामताके विषयमें प्रश्न करके प्रभुने सबकी परीक्षा ली। सबके मनके अभिप्राय, वासना, उपासना और मतमतान्तरके मतवादकी परीक्षा ले ली।

बं० पा०—पूर्व जो अन्तरभावसे सबको काम सौंपा था—(११(८) देखिये)—उसकी यहाँ परीक्षा ले ली। सब परीक्षामें उत्तीर्ण हुए। इस प्रकार कि—१ प्रथम सुग्रीवके अङ्कमें सिर रखकर उनके शिरोभार सब मिलकियत दी। उन सुग्रीवको आपकी विजय-भूमि ही देख पड़ती है, इसीपर उनकी दृष्टि है, इसीसे वे कहते हैं कि '***ससि महँ प्रगट भूमि की झाँई।***' २—अङ्गदको पुरुषार्थ भाग दिया सो उनके चित्तमें रावणका मारना अर्थात् वध ही है। यह बात '***मारेहु राहु ससिहि***' से सूचित करते हैं। ३—जाम्बवन्त वृद्धमन्त्री ब्रह्माके अंशसे हैं; इससे उन्होंने सृष्टिहीका देश कहा कि शत्रुका छिद्र सदा देखता रहे—(नोट—पर पूर्व जाम्बवन्तजीको कोई कार्यभार सुपुर्द करना नहीं दिखाया गया; और न वहाँ इनका नाम ही आया है।) ४—रामचन्द्रजीके '***बाम दहिन दिसि चाप निषंग***' होना और '***दुहुँ कर कमल सुधारत बाना***' कहकर शत्रुवधके लिये इनकी अत्यन्त आतुरता दिखायी, इसीसे इन्होंने दोका विरह कहा—प्रथम तो भरतका, दूसरे प्राणप्रियाका। भाव कि यह आजकी रात्रि हमको अत्यन्त दुःसह है। ५—अन्तमें हनुमान्‌जीने अपना अनन्य भाव कहा। ६—विभीषणको मन्त्र-भाग दिया। वे अपना कार्य कर ही रहे हैं, यथा—'***कह लंकेस मन्त्र लगि काना।***' इस प्रकार सभी कर्मचारियोंको, सौंपे हुए अपने-अपने कामोंमें सावधानता दिखायी।

पां०—चन्द्रमाकी श्यामताके विषयमें प्रश्न करके प्रभुने सबके अन्तःकरणका भाव प्रकट किया। सुग्रीवने '**भूमि की झाँई**' कही, इससे राज्यकी अभिलाषा सूचित हुई। किसीने राहु-चन्द्रका समर कहा, इससे वीरता

और समरका मनोरथ मिला। किसीने रतिमुखकी शोभा कही, इससे समर-विमुखता पायी गयी।* रघुनाथजीके निज समयानुकूल प्रश्न-वचन और सबके रीति-अनरीतियुक्त उत्तर-वचन सुन श्रीमहावीरजी स्वामी श्रीरघुनाथजीके मनोरथानुकूल वचन बोले कि 'चन्द्रमा आपका प्रिय दास है…'। इस कथनका भाव यह है कि ये सब रीछ और वानर चाहे शूर हों, चाहे कादर, परन्तु वे सब आपको अपने हृदयमें बसाये हुए हैं। शरीर भिन्न हो जायगा तभी शत्रु आपको देख सकेगा। (अर्थात् जबतक इनका शरीर है तबतक शत्रु आपके निकट नहीं आ सकता)। यह उत्तर अपने अनुकूल पाकर रघुनाथजी हँसे; इसीसे 'सुजान' कहा।

खर्रा—सुग्रीव राज्यके लिये आसक्त थे। राजसवृत्ति होनेसे उसने '**भूमि की झाँई**' कही। तामसी वृत्तिवालोंने राहुका शशिको मारना कहा। कामीने रतिमुखकी उपमा दी। राम विरही हैं इन्होंने विरह वर्णन किया। हनुमान्‌जीने अपनी भावना कही, क्योंकि ये सात्त्विक वृत्तिके हैं।—(इस भावपर १२ (८) पाद टिप्पणी देखिये।

देखु बिभीषन दच्छिन† आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा॥ १॥
मधुर मधुर गरजै घन घोरा। होइ बृष्टि जनि‡ उपल कठोरा॥ २॥
कहत बिभीषन सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न बारिदमाला॥ ३॥

शब्दार्थ—**घमंड**=समूह, गर्व। **आसा**=दिशा। '**विलासना**'=विशेषरूपसे शोभा देना, बहुत अच्छा जान पड़ना। अथवा, दामिनी-विलास दामिनीका दमकना। **माला**=समूह, झुंड। **तड़ित**=बिजली।

अर्थ—विभीषण! दक्षिण दिशाकी ओर देखो, बादल गर्वसहित उमड़े हैं। बिजली (बादलोंके बीचमें) विशेष शोभित हो रही है अर्थात् चमक रही है॥ १॥ भयंकर बादल मधुर-मधुर (धीमे-धीमे) गरज रहे हैं, कहीं घोर वर्षा न हो और कठोर पत्थर (ओले) न गिरें॥ २॥ विभीषणजी बोले—हे कृपालु! सुनिये। यह न तो बिजली है,न मेघोंका समूह॥ ३॥

नोट—१(क) दोहेमें यह नहीं जान पड़ा था कि किससे कहा। उसे यहाँ स्पष्ट किया कि विभीषणसे कहा। (ख) दक्षिणदिशाके मर्मी विभीषणजी हैं। अतः इस प्रश्नके उत्तरके लिये इन्हींको सम्बोधन किया। अन्य सब तो वही समझते हैं जो प्रभु कह रहे हैं। सम्मानार्थ सर्वज्ञ प्रभु अज्ञकी तरह पूछ रहे हैं। (ग) '*घन घमंड*'—अर्थात् बड़ी काली घटावाले बादलोंके समूह, यथा—'*सोइ जनु जलद घटा अति कारी*'। पुनः, यथा—'*धूप धूम नभ मेचक भयऊ। सावन घन घमंड जनु ठयऊ॥*' (१। ३४७) (घ) बादलका गरजना भी विरहका उद्दीपक है, यथा—'*घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥*'—(कि०) (ङ) 'घमंड' शब्दका भाव कि बादल घुमड़-घुमड़कर एकत्र हैं, मानो गर्वसे भरे हैं कि हम सब भूमिको जलमयी कर देंगे। और उधर रावण भी अभिमानसे परिपूर्ण बीसों भुजाएँ देखता हुआ नाच-तमाशेमें लगा है।

नोट—२ पहले '*घन घमंड*' कहकर तब उनका 'गर्जन' कहा, उसी क्रमसे '*होइ बृष्टि*' और '*उपल कठोरा*' कहा। उमड़ते हुए मेघ हैं, इसलिये वर्षाकी झड़ीकी समभावना है और गरज रहे हैं, इससे ओलोंकी सम्भावना है। '*होइ बृष्टि जनि*' में भाव यह कि हम सब मैदानमें पड़े हैं, वर्षा होनेकी सम्भावना हो तो उसका उपाय तुरंत कर लेना चहिये।—यहाँ भ्रान्ति अलंकार है। विभीषणजीके उत्तरमें 'भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार' है।

लंका सिखर उपर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा॥ ४॥
छत्र मेघडंबर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अति कारी॥ ५॥
मंदोदरी श्रवन ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका॥ ६॥
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुरभूपा॥ ७॥

१. पर श्रीरामदलमें जो उत्साह और बल मानसकार वर्णन कर आये हैं वह इस भावका निषेध करता है।—'मर्दि गर्दि मिलवहिं दससीसा। ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा॥' 'सहज सूर कपि भालु सब पुनि सिर पर प्रभु राम।' (सु० ५५) तब 'समर-विमुखता' का भाव किसीके हृदयमें अभीसे कैसे सम्भव है?

† भा० दा० का०, आदिमें 'छ' है, आधुनिक पाठ 'च्छ' है। ‡ जनु पाठान्तर।

शब्दार्थ—**मेघडंबर**=बड़ा चँदोवा, शामियाना, दलबादल, एक प्रकारका छत्र। **ताटंक**=कर्णफूल, तरकी। **मृदंग**—यह बाजा ढोलकसे कुछ लम्बा होता है। इसका ढाँचा पक्की मट्टीका होता है। इसीसे मृदंग नाम पड़ा।

अर्थ—लंकाके शिखर (कँगूरे) पर एक भवन है। दशकंधर रावण वहाँ अखाड़ा (नृत्यगानादि, नाच-तमाशा) देखता है॥ ४॥ सिरपर मेघडंबर नामक छत्र धारण किये है। वही मानो मेघोंकी अत्यन्त काली घटा है॥ ५॥ हे प्रभो! मन्दोदरीके कानोंमें कर्णफूल हैं, वही (ऐसे चमक रहे हैं) मानो बिजली चमक रही है॥ ६॥ हे देवताओंके सिरताज स्वामी! सुनिये, अनुपम ताल और मृदंग बज रहे हैं (वा, मृदंग अनुपम तालसे बज रहा है), वही मधुर (मीठी-मीठी) ध्वनि (सुनायी पड़ती) है*॥ ७॥

नोट—लंकाके शिखरपर यह भवन है। रावण और मन्दोदरी एवं छत्र-मेघडंबर दिखायी पड़ते हैं। प्रभु लेटे हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि वह शिखर भी सुवेलके शिखरकी ऊँचाईका है। वाल्मीकीय रामायण एवं नाटकमें रावणका महलपरसे ही शिखरपर स्थित यूथपादिको देखकर सारन और महोदर आदिसे सबका परिचय लेना कहा है। जिससे सिद्ध होता है कि लंकाशिखरपरसे सुवेल और सुवेलशिखरपरसे लंका देख पड़ती है।

टिप्पणी—१—१३(१—७) से शृङ्गाररसकी उत्पत्ति कही। प्रमाण यथा—'**ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः, उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति॥**' (भरताचार्यग्रन्थे) अर्थात् ऋतुके फूलोंकी माला और आभूषणोंके द्वारा, प्रियजनोंके गाने-बजाने-नाचने, कवितापाठ आदि मनोरञ्जक सेवाओंके द्वारा तथा उपवनमें जाने और विहारोंके द्वारा शृङ्गाररस उत्पन्न होता है।

टिप्पणी—२ '*मंदोदरी श्रवन ताटंका।* ....' इति। इससे जनाया कि मन्दोदरीको रावण गोदमें बिठाये है, इसीसे अत्यन्त काली घटामें मानो बिजली चमकती जान पड़ती है। (खर्रा)

टिप्पणी—३ ['सुरभूप' का भाव कि देवता अन्तर्यामी होते हैं, वे सब जानते हैं और आप तो उनके भी स्वामी हैं, सब जानते हुए भी मुझसे पूछते हैं—'*सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानतहू पूछहु मतिधीरा॥*' (आ० ३६। १२; श्रीशबरीवाक्य), '*जानतहूँ कस पूछहु स्वामी। तुम्ह कृपाल उर अंतरजामी॥*' '*सुरभूपा*' का भाव कि देवकार्यके लिये ही तो आपका अवतार है—(बं० पा०) या देवता सब रावणकी कैदमें हैं, आप उनके राजा हैं, अब शीघ्र उनको छुड़ाइये।]

टिप्पणी—४ मेघडंबर छत्रमें घनघटाका भ्रम कहनेसे पाया गया कि मेघडंबर छत्र मेघसदृश काला और बहुत लम्बा-चौड़ा है। जलवृष्टि-निरोधक होनेसे यह नाम पड़ा।

प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान संधाना॥ ८।

शब्दार्थ—संधानना=धनुषपर बाण चढ़ाकर लक्ष करना, निशाना लगाना, बाण चलाना।

अर्थ—इसे रावणका अभिमान समझकर प्रभु मुस्कुराये (अर्थात् ऐसा अभिमान है कि हमारा किंचित् भय नहीं है) और धनुष (पर रौंदा या प्रत्यञ्चा) चढ़ाकर उसपर बाणका संधान किया॥ ८॥

☞ अध्यात्मरामायण और हनुमन्नाटक दोनों एकमत हैं कि यह बाण लक्ष्मणजीने प्रभुके करकमलमें दिया था। यथा—'**रामोऽपि धनुरादाय लक्ष्मणेन समाहृतम्। दृष्ट्वा रावणमासीनं कोपेन कलुषीकृतः॥ किरीटिनं समासीनं मन्त्रिभिः परिवेष्टितम्। शशाङ्कार्द्धनिभेनैव बाणेनैकेन राघवः॥ श्वेतच्छत्रसहस्राणि किरीटदशकं तथा। चिच्छेद निमिषार्द्धेन तदद्भुतमिवाभवत्॥**' (अध्यात्म० ५। ४२—४४) अर्थात् रावणको किरीट धारण किये मन्त्रियोंसहित बैठा हुआ देखकर लक्ष्मणजीके लाये हुए धनुषको उठाया और अर्द्धचन्द्राकार गाँसी लगे हुए बाणको लेकर कोप करके एक ही बाणसे हजारों श्वेतच्छत्रों और दसों किरीटोंको आधे पलमें काट गिरानेका अद्भुत कार्य किया। लक्ष्मणजीकी चतुरता पुष्पशय्यासे यहाँतक बराबर झलक रही है। शय्याका

---

* भट्टिकाव्ये सर्ग १४ श्लोक ४, यथा—'मृदङ्गा धीरमास्वेनुर्हतैः स्वेने च गोमुखैः। घण्टाः शिशिञ्जिरे दीर्घं जह्रादे पटहैर्भृशम्॥' अर्थात् युद्धमें राक्षसोंद्वारा घंटे ऊँचे-ऊँचे बजते हैं तथा नगाड़े ऊँचे स्वरसे बजते हैं। मृदंग गम्भीर नाद करते हैं। गोमुख रणसिंहे (तुरही) बजाये जाते हैं।

सिरहाना पश्चिमकी ओर किया, जिसमें पूर्णचन्द्रपर स्वाभाविक ही दृष्टि पड़े। कनक-मृगचर्मसे विरहका उद्दीपन होगा, फिर चन्द्रमाको देखकर विरहाग्नि और भी प्रज्वलित होगी; बस फिर करकमलोंसे दुलराया हुआ बाण कब बिना कुछ कार्य किये रहने पावेगा? आज ही युद्धका श्रीगणेश हुए बिना कब रह सकेगा?

'समुझि अभिमाना'। निडर नाचरंगमें मस्त होना अभिमानसूचक है, यथा—*'अति अभिमान त्रास सब भूली।'* (३७। २)

दो०—छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान।
सब के देखत महि परे मरमु न काहू जान॥ १३(क)॥

अर्थ—तब (बाणका निशाना लगाकर) एक ही बाणसे छत्र, मुकुट और कर्णफूल सबको काटकर गिरा दिया। सबके देखते-देखते वे पृथ्वीपर आ गिरे; परन्तु भेद किसीने न जाना* ॥ १३(क)॥

नोट—भाव यह कि अत्यन्त शीघ्रतासे आधे ही पलमें बाणने सबको काट गिराया। इसीसे किसीकी दृष्टिमें न आया। ऐसा अद्भुत कार्य किया।—**'चिच्छेद निमिषार्द्धेन तदद्भुतमिवाभवत्।'** (अ० रा०)

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजीने विचारा कि हम तो विभीषणको लंकेश बना चुके, यह जानकर भी रावण हमारे सामने ही राजसी ठाट-बाटसे भोग-विलास कर रहा है, छत्र मुकुटादि धारण किये अभिमानपूर्वक राजा बना बैठा है। अतएव अब राजा होनेका गर्व और इसका यह भोग-विलास आज इसी समय चूर्ण कर देना चाहिये। अतः रावणका छत्र और मुकुट तथा मन्दोदरीका ताटंक काटकर यह सूचित किया कि अब तुम लंकाके राजा नहीं हो, तुम्हारे स्थानपर विभीषण राजा है।

मा० शं०—वहाँ रावणका ऐश्वर्य प्रत्यक्ष कहा और यहाँ प्रभुका ऐश्वर्य गुप्त रीतिसे चन्द्र-वर्णन और छत्रादिके भङ्गसे कहा—*'ससि तुम्हार प्रिय दास'* और 'छत्र मुकुट.........।'

वीरकवि—रावणका नाच-गान देखकर श्रीरामचन्द्रजीने अदृश्य बाण छोड़कर ऐसी सूक्ष्म क्रिया की कि उसका मर्म कोई न जान सका। यहाँ 'सूक्ष्म अलङ्कार' है।

दो०—अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग।
रावनसभा ससंक सब देखि महारस-भंग॥ १३(ख)॥

शब्दार्थ—**रस**=किसी विषयका आनन्द, क्रीड़ा, केलि, विनोद। **भंग**=विनाश, बाधा, विघ्न, विध्वंस। **रसभंग**=आनन्दक्रीड़ामें विघ्न। यथा—*'जेहि बिधि रामराज रस भंगू।* अ० २२२। ७।'

अर्थ—ऐसा आश्चर्यमय कार्य करके श्रीरामचन्द्रजीका बाण तर्कशमें आकर प्रविष्ट हो गया। इस बड़े आनन्दमें बड़ा भारी विघ्न देखकर रावणकी सभामें सब-के-सब भयभीत और शङ्कायुक्त हो गये॥ १३(ख)॥

रा० प्र—*'कौतुक'* पदसे धनुर्वेदोक्त पटुता जनायी। रसभङ्ग अर्थात् उत्पातसे नृत्यादिकी निवृत्ति।

पं०—*'महारसभंग'* —एक तो नृत्य-गानादिका रसभङ्ग, दूसरे मुकुटोंका गिरना शीशके गिरनेके समान है; यथा—*'आइगो कोसलाधीस तुलसीस जेहि छत्रमिस मौलिदस दूरि कीन्हे।'* (क० ६। १९) (मुकुट गिरनेसे राज्यभ्रष्ट होना जनाया)—और कर्णफूल, जो सोहागका भूषण है, उसका गिरना रावणकी मृत्यु और मन्दोदरीको वैधव्यका सूचक है। अतएव 'महारसभङ्ग' जाना।

नोट—१ *'सशंक'* में दोनों भाव हैं—एक तो सब डर गये कि अभी और न जाने क्या विघ्न उपस्थित हो जाय, अपने प्राणोंका भी डर हो गया। दूसरे रावणके विषयमें शङ्का हो गयी कि इसका राज्य गया मालूम होता है।

---

* मिलान कीजिये—'अथ श्रीरामचन्द्रोऽपि सुवेलाद्रौ स्थितस्तदा। लीलया चापमादाय मुमोच शरमुत्तमम्॥ तेनच्छत्रसहस्राणि किरीटदशकं तथा। लंकायां राक्षसेन्द्रस्य प्रासादे संस्थितस्य च॥ चिच्छेद निमिषार्धेन कपीनां पश्यतां प्रभुः।' (आ० रा० १। १०। २४५—२४७) 'राघव-सर लाघवगति छत्र मुकुट यों हयो। हंस सबल अंसु-सहित मानहु उड़ि कै गयो॥' (रा० चं० १५। ४०)।

वि० त्रि०—सरकारने अद्भुत बनैतीका कौशल दिखलाया। रावणके छत्र और मुकुटको बाणने गिराया और रावणके सिरमें खरोच न आयी। जैसे कोई किसीकी टोपी उतार ले और उसे मालूम न हो। फिर जिस बाणने छत्र-मुकुट गिराया, उसीने घूमकर मन्दोदरीके कानोंका ताटंक भी काट दिया। मन्दोदरीको मालूम भी न हुआ कि कैसे गिरा। सब लोग सङ्गीतमें दत्तचित थे, जिस लाघवसे बाणने काम किया कोई लख न सका। इतना ही नहीं बाण लौटकर सरकारके निषङ्गमें प्रवेश कर गया और उधर सब मजा ही किरकिरा हो गया। क्या समाँ बँधा हुआ था, ताल, पखावज, वीणा बज रही थी, गन्धर्व गान कर रहे थे, अप्सराओंका नृत्य हो रहा था, सो छत्र, मुकुट, ताटङ्क गिरते ही सब रसभङ्ग हो गया। सभा-की-सभा डर गयी कि यह हुआ क्या?

पु० रा० कु०—'महारसभङ्ग' इति। महारस शृङ्गाररस है, जो रसराज कहलाता है। गीत-नृत्यादि शृङ्गाररसके विभाव हैं। प्रमाण १३ (१—७) में दिया गया है! यहाँ रावणके निज हृदयानन्दार्थ नृत्य-गीतादिके उद्यममें छत्रादिहनन अनिष्टकी प्राप्ति हुई। इसलिये 'यह तीसरा विषम अलङ्कार' हुआ, यथा—**'अनिष्टस्याप्यावाप्तिश्चेत्तदिष्टार्थसमुद्यमात्'**।

नोट—२ 'रसभंग' पद पूर्व अयोध्याकाण्डमें रामराज्यके सम्बन्धमें आया है, दूसरे यहाँ। इससे जनाया कि अब रावणका राज्य जा रहा है।

कंप न भूमि न मरुत बिसेषा। अस्त्र सस्त्र कछु नयन न देखा॥ १॥

शब्दार्थ—**अस्त्र**=वह हथियार जिसे फेंककर शत्रुपर चलायें। जैसे—बाण, शक्ति। एवं जिससे कोई चीज फेंकी जाय, जैसे धनुष, बन्दूक। **सस्त्र**=वह हथियार जो हाथसे चलाये जायँ, जैसे तलवार। पुनः, यथा—**'अस्त्रमन्त्रैः प्रयोक्तव्यं शस्त्रमुक्तं तु तैर्विना'** अर्थात् अस्त्रको मन्त्रोंद्वारा काममें लाना होता है और शस्त्र उसके बिना।

अर्थ—न तो पृथ्वी काँपी (हिली-डोली), न बहुत तेज हवा ही चली और न कोई अस्त्र-शस्त्र ही आँखोंसे देख पड़े। अर्थात् मुकुटादि कैसे कटकर गिरे, क्या कारण है, यह कुछ न जान पड़ा॥ १॥

रा० बा० दा०—रामायणी माधोदासजी कहते थे कि यह वायव्य बाण था। *'मरुत बिसेषा'* से 'साधारण' मरुत और 'विशेष' मरुत दो सूचित किये।

नोट—अध्यात्ममें जो *'अद्भुतमिवाभवत्'* कहा था वह यहाँ कविने स्पष्ट कहा कि किसीने न तो बाण देखा, न मर्म जान पाये। जिन कारणोंसे ऐसा होना सम्भव था वे कोई उपस्थित नहीं देख पड़ते। यही अद्भुतता है।

सोचहिं सब निज हृदय मँझारी। असगुन भयउ भयंकर भारी॥ २॥

शब्दार्थ—**मँझारी**=में, यथा—*'गिरि त्रिकूट इक सिंधु मँझारी।'* **असगुन**=अपशकुन।

अर्थ—सभी अपने-अपने हृदयमें सोच रहे हैं कि यह बड़ा भयंकर अपशकुन हुआ है॥ २॥

पु० रा० कु०—इसे शास्त्रमें अतिनिकट मृत्यु-सूचक अपशकुन कहा है।

पं०—इसे महा अपशकुन इससे विचारते हैं कि यदि मुकुटादिका गिरना किसी निमित्त (द्वारा) होता तो भी अपशकुन था और यहाँ तो कोई निमित्त देख नहीं पड़ा, सब अकारण ही हुआ है। अतएव सब अति चिन्तातुर हैं।

पां०—हृदयमें सोचते हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष सोच करनेमें रावणका डर है। यथा—*'तासु चरित मन महुँ सब गावा।'* (८। २; प्रहस्तवाक्य)

नोट—ऊपर *'ससंक'* कहा, फिर दो अर्धालियोंमें शङ्का कही और अन्तमें *'असगुन भयउ'* कहा। इन शब्दोंसे जनाया कि रावणकी ही मृत्यु नहीं होगी वरन् निशिचर-कुलका विनाश जान पड़ता है। यथा—*'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका॥ निज निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचरकुल केर उबारा॥'* (५। ३६। १-२)

पुनः, '**सोचहिं**' का भाव कि यह अपशकुन कैसे दूर हो। शङ्कानिवारणार्थ विचार करना 'वितर्क' संचारी भाव है।

दसमुख देखि सभा भय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई॥ ३॥
सिरौ गिरै संतत सुभ जाही। मुकुट परे* कस असगुन ताही॥ ४॥

शब्दार्थ—**जुगुति** (युक्ति)=असल मर्म छिपानेके लिये दूसरेसे कोई चतुराईकी बात बनाकर कहना जिससे वह मर्म न जान सके। **परे**=गिरनेसे।

अर्थ—सभा भयभीत है यह देख रावणने हँसकर युक्ति बनाकर ये वचन कहे॥ ३॥ जिसके सिरोंका भी कटकर गिरना सदा शुभ (कल्याणकारी शकुन) होता आया है; उसके लिये मुकुटका गिरना कैसे अपशकुन हो सकता है॥ ४॥

नोट—१ *'दसमुख'* पदसे जनाया कि बीसों नेत्रोंसे देखा जिसमें कोई रह न जाय, और दसों मुखोंसे खिलखिलाकर हँसा।

पं०—हँसनेका भाव—(क) सभाका निरादर किया कि तुम बड़े कायर हो। (ख) उसने विचारा कि यदि मैं सकुच जाऊँगा तो इन लोगोंको विशेष शोक होगा और यदि मैं हँसकर इस अपशकुनका निरादर कर दूँगा तो सबका चित्त शान्त हो जायगा कि जिसके मुकुट गिरे जब वही प्रसन्न है तब हम व्यर्थ क्यों चिन्तातुर हों। अतः हँसा। (ग) युक्ति भी शीघ्र स्फुरित हो आयी अतः हँसकर कहा।—(प्रत्यक्ष अपशकुनको छिपानेके लिये हँसा कि जिसमें लोग इसे अपशकुन न समझ शकुन ही जानें)—[यह व्याजोक्ति अलङ्कार है—(वीर)]

नोट—२ *'सिरौ गिरै संतत सुभ ……।'* इति। भाव कि शिवजीको सिर काटकर चढ़ाये उससे मुझे दिग्विजय, इन्द्रसे भी सैकड़ों गुणा अधिक विलास और अनुपम ऐश्वर्य आदि प्राप्त हुए; मुकुटादि तो सिरके भी ऊपर रहते हैं, अतः उनके गिरनेसे और भी अधिक लाभ होनेकी सूचना है। रामचन्द्रपर जय और सीताप्राप्ति होगी।

वै०—सिर गिरे लोकमें कल्याण हुआ और मुकुट गिरनेसे परलोकका लाभ होगा। (रा० प्र०—यह भाव सरस्वतीकी ध्वनिसे निकाला हुआ है।)

मा० हं०—यहाँ एक ही चौपाईसे गोस्वामीजीने रावणका स्वरूप ठीक उस बेशरम (निर्लज्ज) का-सा बतलाया है जो लातें खाकर भी कहता ही है कि पीठका मैल झड़ गया।

सयन करहु निज निज गृह जाई। गवने भवन सकल सिर नाई॥ ५॥

अर्थ—अपने-अपने घर जाकर शयन करो (सोओ। भाव यह कि विश्राम करनेसे यह सोच मिट जायगा)। (तब, आज्ञा होनेपर) सब लोग माथा नवा (प्रणाम) कर (अपने-अपने) घर गये॥ ५॥

बं० पा०—रावणने किसीको प्रसन्न न देखा तब दूसरा उपाय यह किया कि सभा बरखास्त हो। ***'सिर नाई'*** में दोनों भाव हैं—एक तो प्रणाम करके; दूसरे नीचा सिर करके (यह शोचकी एक मुद्रा है)। क्योंकि सब सशोकातुर हैं—(रा० प्र०, पं०)।

पं०—शयनकी आज्ञा भी उनके निरादरार्थ दी। अथवा, यह सोचकर कि यहाँ रहेंगे तो मुझे भी भयकी ही बात सुनायेंगे।

मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवन पूर महि खसेऊ॥ ६॥

शब्दार्थ—**श्रवनपूर**=ताटंक, कर्णफूल। **खसना**=गिरना।

---

* खसे—(का०)। अर्थ वही है जो 'परे' का है। प्र० स्वामीका मत है कि 'खसे' पाठ अधिक सुन्दर है, क्योंकि ख, क एक वर्गके हैं और से, 'स' से अनुप्रासका सौन्दर्य बढ़ता है। कारण बिना गिरनेके अर्थमें 'खसना' का प्रयोग मानसमें उपलब्ध है—'खसी माल मूरति मुसुकानी।' और कुछ कारणसे मुकुटोंका गिरना 'परे' शब्दसे कथित है—'भूतल परे मुकुट अति सुंदर।' (३२।५)

अर्थ—जबसे मन्दोदरीके कानोंका भूषण पृथ्वीपर गिरा, तबसे उसके हृदयमें शोच बस गया। भाव यह कि यह शोच अब बराबर बना ही रहेगा, हृदयसे जानेका नहीं है॥ ६॥

नोट—१ मन्दोदरीको मुकुटादिके गिरनेका शोक न हुआ और अपने कर्णफूलके गिरनेका शोक हुआ। कारण यह है कि कर्णफूल अहिवात (सौभाग्य)का चिह्न है। कानोंसे इनका गिरना उसका वैधव्य और रावणकी मृत्यु निश्चय बताता है। यथा—*'आइगे कोसलाधीस तुलसीस जेहि छत्र मिस मौलिदस दूरि कीन्हें।'* (क० लं० १९) पतिका मरण समझ शोचका निवास हृदयमें हो गया। मुकुटके गिरनेसे राज्यकी हानि ही समझी जाती है। इससे वह इतनी शोचनीय नहीं थी। पंजाबीजीने अपनी इस शङ्काका समाधान यह किया है कि श्रवणपूर मुकुटादिका भी उपलक्षक है। *'बसेऊ'* का भाव कि पहले शोच होता था तो चला जाता था, अब न जायगा।

मन्दोदरीका तृतीय उपदेश

सजल नयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति बिनती मोरी॥ ७॥

अर्थ—नेत्रोंमें जल भरकर दोनों हाथ जोड़कर वह रावणसे कहने लगी—प्राणपति! मेरी विनती सुनिये॥ ७॥

प० प० प्र०—पिछले दो बारके उपदेशोंमें मन्दोदरीने 'कन्त' और 'प्रिय' शब्दोंका प्रयोग किया और शृङ्गाररसकी सामर्थ्यसे समझानेका प्रयत्न किया, पर उसने कुछ काम न किया। अतएव अब *'सजल नयन'* होकर करुणरसका आश्रय लेकर समझानेका प्रयत्न करती है। स्त्रियोंका स्वभाव है कि जब शृङ्गारसे काम नहीं चलता तब रो-रोकर विनती करती हैं, जिससे पुरुषका हृदय द्रवित हो जाता है, उसे दया आती है और वह विनय मान लेता है।

नोट—१ *'सजल नयन'* हृदयके शोक और सुहागकी चिन्तासे। विनती करती है अतः हाथ जोड़े। हाथ जोड़कर अपनी अति दीनता दिखायी, यथा—*'हृदय दाह अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना॥'* (२। ९४। ५) *'प्रानपति'* का भाव कि हमारे प्राणोंके आप स्वामी हैं, आपको रखनेसे ये रह सकते हैं। *'बिनती मोरी'* अर्थात् मैं नम्रतापूर्वक आपसे यह प्रार्थना करती हूँ, कुछ आपको उपदेश नहीं देती, क्योंकि आप मेरे प्राणोंके रक्षक हैं। ☞ वियोग सिरपर खड़ा जानकर नम्रतापूर्वक विनयकी यह रीति है। अङ्गदादि जब अवधसे घर लौटाये गये उस समय वियोगसे भयभीत अंगदके वचन इसी प्रकारके हैं, यथा—*'तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि। अति बिनीत बोलेउ बचन मनहु प्रेम रस बोरि॥'* उ० १७॥'

कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥ ८॥

शब्दार्थ—**कंत** (कान्त)=पति। यथा—*'सिंधुसुता प्रिय कंता', 'सो मम हित लागी जन अनुरागी भए प्रगट श्रीकंता॥'* (१। १९२) *'पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥'* (५। ३६। ८)

अर्थ—स्वामिन्! श्रीरामजीसे वैर छोड़ दीजिये। उन्हें मनुष्य समझकर मनमें हठ न धारण कीजिये॥ ८॥

वं० पा०—'कन्तका भाव कि आप हमारे सुखके विस्तार करनेवाले हैं, सब सुखोंके देनेवाले हैं। (यथा—*'अमित दानि भर्ता बैदेही।'* (अनुसूयावाक्य) कं=सुख। सुखको बढ़ावे वह 'कंत', यथा—'**सुखं तनोतीति कंतः**।' [प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि *'कंत'* शब्द संस्कृत भाषाका नहीं है। अतः ऐसा अर्थ सयुक्तिक नहीं है। यह कान्तका अपभ्रंश है। **कान्त**=पति। यथा—'**कान्ता नार्यां' प्रियङ्गौ स्त्री, शोभने त्रिष्ठ, ना (कान्त) घने (पतौ) इति विश्वमेदिन्यौ**।']

नोट—मन्दोदरी पतिको 'राम-विरोध' करनेसे रोकती है, क्योंकि रामद्रोहीकी रक्षा कोई नहीं करता, यह बात वह जयन्तके प्रसङ्गसे जानती है, हनुमान्‌जीसे भी सुना है और शुकने भी कहा है। मारीचने रावणको समझाया है। उसने भी यही कहा था—यह भी मन्दोदरी जानती है। यथा—*'संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥'* (५। २३। ८) *'राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस।'''''* *कह सुक।'* (सुं० ५६) *'सुरपतिसुत जानइ बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा॥'* (३५। १२) *'बानप्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहु नीचा॥'* (३५। ९) *'तासों तात बयरु नहिं कीजै। मारे मरिय जिआए जीजै॥'* (आ० २५। ४)

'जानि मनुज' इति। इससे जनाया कि रावण श्रीरामजीको साधारण मनुष्य ही समझता है। इसीसे मारीच, विभीषण, प्रहस्त, मन्दोदरी, कुम्भकर्णने उससे कहा है कि ये 'नर' नहीं हैं। यथा—*'ते नर रूप चराचर ईसा।'* (आ०), *'तात राम नहिं नर भूपाला।'* (५। ३९। १) *'सो भनु मनुज खाब हम भाई।'* (९। ६) *'सो नर क्यों दसकंध अभागा।'* (२६। ४) *'हैं दससीस मनुज रघुनायक।'* (६२। ३) एवं *'मनुज कि अस बरिबंड।'* (३। २५) इन वचनोंसे कविने जना दिया है कि श्रीरामजी 'नर' नहीं हैं।

'जनि हठ धरहू' का भाव कि मनुष्य समझते हो इसीसे हठ करते हो, ईश्वर जानते तो हठ न करते। पुनः, सिखावन न सुननेसे मनमें हठ होना कहा, मनमें हठ होता है तभी सिखावन नहीं सुना जाता, यथा—*'मनु हठ परा न सुनइ सिखावा।'* (१। ७८) सिखावनपर विश्वास करनेको कहेगी, इसीसे प्रथम *'जनि हठ धरहू'* कहा।

दो०—बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥ १४॥

शब्दार्थ—**कल्पना**=अनुमान, भावना, मान लेना। **प्रति**=में।

अर्थ—मेरे वचनोंपर विश्वास कीजिये कि रघुकुलमें शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी विश्वरूप हैं। (अर्थात् सारा संसार उन्हींका रूप है, उन्हींका अङ्ग है, वे अङ्गी हैं, वे परमात्मा विश्वरूपमें भासते हैं। विराट्‌रूप हैं।) जिनके अङ्ग-अङ्ग (का लक्ष्य करते हुए प्रत्येक) में वेद लोककी कल्पना करते हैं॥ १४॥

नोट—१ *'करहु बचन बिस्वासु'* इति। (क) पूर्व दो बार समझाया तब इसकी बात नहीं मानी, इससे जाना कि हमारे वचनपर विश्वास नहीं है। विश्वास होता है तब उपदेश हठपूर्वक ग्रहण किया जाता है। यथा—*'तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥'* (१। ८१) *'गुरु के बचन प्रतीति न जेही।'* (१। ८०। ८) (ख) प्रथम सिखावन न माननेका हठ छोड़नेको कहा और अब उपदेशको ग्रहण करनेमें हठ करनेको कहा, जो विश्वास होनेपर ही होगा।

नोट—२ *'लोक कल्पना बेद कर'*। विश्वास करनेको कहा; पर स्त्रीके वचनपर विश्वास कैसे करें? दशरथजी विश्वासमें मारे गये, यथा—*'गयउँ नारि बिस्वास।'* अतः विश्वास करनेका कारण बताती है कि जो मैं कहती हूँ उसके प्रमाण वेद हैं, वेद सब मानते हैं। पुनः, *'कल्पना कर'* का भाव कि वेद भी उनको पूर्णरूपेण नहीं जानते, इसीसे उनका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकते, अनुमानसे कहते हैं, यथा—*'मति अनुमानि निगम अस गावा।'* (१। ११८) *'रघुबंसमनि'* का भाव कि रघुकुलश्रेष्ठ राम ही विराट्‌रूप भगवान् हैं।

वि० त्रि०—मन्दोदरी कहती है कि उपनिषद्‌का वचन है कि रघुकुलमणि विश्वरूपधारी व्यापक निर्विकार नारायण, पूर्णानन्दैकविज्ञान परब्रह्म हैं। यथा—'**विश्वरूपधरं विष्णुं नारायणमनामयम्। पूर्णानन्दैकविज्ञानं परं ब्रह्मस्वरूपिणम्॥**'(रा० ता०) इस स्वतःप्रमाण वचनपर विश्वास करो। सब शास्त्र पढ़ जानेसे ही सिद्धि नहीं होती, विश्वास करनेसे सिद्धि होती है। सरकार इस समय विभवरूपसे विराजमान हैं। इनके अङ्ग-अङ्गके प्रति वेदोंने लोकोंकी कल्पना की है। यथा—'**नाभ्या आसीदन्तरिक्षँ् शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ २ अकल्पयन्॥**'(पुरुषसूक्त)।

पद पाताल सीस अजधामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा॥ १॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन-माला॥ २॥
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥ ३॥

शब्दार्थ—**पाताल**=अधोलोक, सबसे नीचेका लोक, यथा—'**अधोभुवनपातालमित्यमरः। अजधाम=सत्य वा ब्रह्मलोक। घ्राण**=नासिका, नाक।' '**घ्रायतेऽनेन इति घ्राणम्। घ्रा गन्धोपादाने इति धातोः। क्लीबे घ्राणं गन्धवहो घोणा नासा च नासिका।**' इति (अमर०) '**अश्विनीकुमार**'—ये सूर्यके दो यमज (जुड़िया) पुत्र हैं, जो देवताओंके वैद्य हैं—बा० ३२ (३) में देखिये। **अपारा**=संख्यारहित, अमित।

अर्थ—(इस विश्वरूपका) चरण पाताल है, सिर ब्रह्मलोक है और अन्य सब लोकोंका (जो ब्रह्मलोक और पातालके बीचके हैं उनका बीचके) एक-एक अङ्गमें विश्राम (ठहरनेका स्थान) है॥ १॥ भौंहका फेरना (भ्रूभङ्ग) भयङ्कर काल है। नेत्र सूर्य हैं, केश मेघमाला है॥ २॥ जिनकी नाक अश्विनीकुमार हैं, रात और दिन अपार पलकोंका मारना (खोलना, बंद करना) है॥ ३॥

पं० रा० व० श०—जो हमारी इन्द्रियोंके देवता हैं वे ही देवता ईश्वरकी वे इन्द्रियाँ हैं। जैसे हमारे मुखका देवता अग्नि है, वह अग्नि ही भगवान्‌का मुख है, जिह्वाका देवता वरुण है, वही वरुण भगवान्‌की जिह्वा है। घ्राणके देवता अश्विनीकुमार हैं। वही भगवान्‌के घ्राण हैं। सूर्य नेत्रके देवता हैं और वही स्वयं भगवान्‌के नेत्र हैं इत्यादि।

मा० शं०—यह प्रकरण व्यष्टि और समष्टिकी विधिसे चतुर्धा विराट्‌सिद्ध श्रीरामजीके हैं। पद नहीं हैं मानो द्वितीय पाताल जानो; अथवा, पातालोंमें प्रभुका पद है; वा पातालकी उत्पत्ति पदसे है। वा, महाप्रलयमें प्रभुके पदमें पाताल समा जाते हैं।

सि० ति०—चरणको पाताल कहा है। चरणका तल भाग सम्पूर्ण शरीरका आधार है। वैसे ही पातालमें आप सूक्ष्म (वामन) रूप हैं। वह सूक्ष्मरूप व्यापक सत्ताका उपलक्षक है, उसी सत्तापर विश्वरूप शरीर भी स्थित है। इसीसे सबके चरणके देवता वामन (विष्णु) अर्थात् व्यापक कहे गये हैं।

नोट—१ भ्रूभङ्गको काल कहा क्योंकि भ्रूभङ्गसे भी ब्रह्माण्डोंका लय होता है, यथा—'*भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।*' (३। २८। ४) कालको भयङ्कर कहा क्योंकि अमित ब्रह्माण्डोंको खा लेता है। 'तेज' धर्म लेकर नेत्रको सूर्य कहा, यथा—'*तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भयउ जरि छारा॥*' (बा० ८७) '*भानु कमलकुल पोषनिहारा। बिनु जर जारि करइ सोइ छारा॥*' (अ० १७) बाल और मेघ दोनों श्याम हैं। बाल बहुत होते हैं इसलिये घनमाला कहा। घ्राण जिससे सूँघा जाय। इसमें दो नथुने (छिद्र) होते हैं और अश्विनीकुमार यमज हैं, यह समता हुई। पलकें बराबर खुलती-मुँदती हैं वैसे ही रात्रि और दिन लगातार बारम्बार होते रहते हैं।

श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥ ४॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥ ५॥
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥ ६॥

अर्थ—कान दसों दिशाएँ हैं—ऐसा वेदोंने कहा है। (वेदोंने कहा है कि) पवन श्वास है, वेद उनकी अपनी खास वाणी है॥ ४॥ ओष्ठ (होंठ) लोभ है, कराल दाँत कठिन भयंकर यमराज हैं। हँसी माया है। बाहु दिक्‌पाल हैं॥ ५॥ मुख अग्नि है। जिह्वा वरुण है। उत्पत्ति-पालन-प्रलय उनकी चेष्टा है॥ ६॥

पु० रा० कु०—१ '*बेद बखानी*' का सम्बन्ध दीपदेहरीन्यायसे आगे-पीछे दोनोंसे है। २—'*मायाहास*'। हास्यको माया कहा, क्योंकि हँसे नहीं कि मोहित कर लिया। ३—'*उतपति पालन प्रलय समीहा।*' इति। यथा—'**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥**' (तैत्ति० ३। १) अर्थात् जिससे सब उत्पन्न और पालन होते हैं और जिसमें अन्तमें सब प्रविष्ट होते हैं। पुनः, यथा—'**यत' सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये॥**' (स्मृति) अर्थात् आदिसृष्टिमें जिससे सब प्राणी होते हैं और जिसमें युगक्षयके समय सब लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है।

नोट—१ अंबुपति=वरुण। क्योंकि आगे उदरको समुद्र कहते हैं।

पु० रा० कु० २—पं०—उत्पत्ति आदि सामान्य इच्छा है। भाव कि उत्पत्ति आदिके लिये इनको कुछ यत्न नहीं करना पड़ता। ***प्रमाणं श्रुतिः*** '*एकोऽहं बहु स्याम्।*' जैसे संकल्पमात्रसे ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति वैसे ही बिना यत्न उनका पालन एवं लय आदि। यथा—'***लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥***' (१। २२५)

रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥ ७॥
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का* बहु कल्पना॥ ८॥

शब्दार्थ—**रोमराजि**=रोमावलि, रोयोंकी वह पंक्ति जो पेटके बीचोंबीच नाभिसे ऊपरकी ओर जाती है। **भार**—यह १२ करोड़ ३० लाख एक हजार छः सौ साठ वृक्षोंकी संज्ञा है। पुनः, '**भारः समूहे वृक्षे च सहस्त्रे द्वितये तथा। विविधे चौषधे सोमे गुरुतायां दिवाकरे**॥' इत्यनेकार्थ शब्दमाला। **जार** (जाल)=समूह। **अधगो**=नीचेकी इन्द्रियाँ—शिश्न वा गुदा। **यातना**=नरक, यमकी तीव्र वेदना, यथा—'**यातनातीव्रवेदना**……।' इति (अमर०)

अर्थ—१८ भार वनस्पतियाँ उनकी रोमावलि हैं, पर्वत हड्डियाँ हैं, नदियाँ नसोंका समूह हैं॥ ७॥ उनका पेट समुद्र है, नीचेकी इन्द्रियाँ (मलमूत्रवाली) नरक हैं। (कहाँतक कहा जाय? समझ लो कि) विश्वमय स्वामीकी ऐसी ही बहुत कल्पना है एवं प्रभु जगन्मय हैं (सब जगत् उन्हींका शरीर है) तब बहुत कथनसे क्या (प्रयोजन) है?॥ ८॥

☞ मिलान कीजिये—'**रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः। प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः॥**' (भा० १०। ६३। ३६) ओषधियाँ आपके रोम हैं, मेघ केश, ब्रह्मा बुद्धि, प्रजापति लिङ्गेन्द्रिय और धर्म आपका हृदय है। ऐसे आपके त्रिलोकमय विराट्-रूपकी कल्पना की जाती है। पुनः, यथा—'*भुवन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥ सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी॥*' (उ० २२)

पु० रा० कु०—६ भार कंटक, ६ भार फूलवाले और ६ भार फलवाले, सब १८ भार वनस्पति हैं [प्रमाण तत्त्ववेत्ताजी—'*बारह कोटि बन बृक्ष लाख तहँ तीस सुनिजै। सोरह सत और आठ भार एक ताहि गनिजै॥ चार भार बन पुहुप चार फल फूल बिराजै। षट वेली भूभार चार सिर कंटक राजै॥ तत्त्ववेता तुलसी बिना भार अष्टादस संज्ञा कही। और अनेक उपजे खपे अलख पुरुष अविचल कही॥*' (वं० पा०)] ७२ हजार नदियाँ हैं। बहुत कल्पना है अर्थात् और भी जो बहुत-से अङ्ग और उपाङ्ग हैं उनके विषयमें भी बहुत-सी कल्पनाएँ की गयी हैं। प्रभु प्रधान हैं।

नोट—१ शरीरभरमें रोएँ होते हैं, वैसे ही पृथ्वीमें सर्वत्र वनस्पतियाँ हैं। हड्डियाँ बड़ी दृढ़, वैसे ही पर्वत; दधीचि ऋषिकी हड्डीसे व्रज बना था। पर्वत बड़े, वैसे ही शरीरमें हड्डियाँ बड़ी। नदियाँ लम्बी, छोटी, बड़ी और जाल-सरीखी फैली हुई; वैसे ही नसें भी ऊपरसे नीचेतक फैली हुई होती हैं—यह समता है। २—उदरमें नाभि है जो परम गँभीर है, यथा—'*नाभि गँभीर जानि जिहिं देखा।*' (१। १९९। ४) अर्थात् ब्रह्माजी भी उसका पता न लगा सके थे। और समुद्र अथाह है। यह समता है। '**अधगो**' में मलमूत्र, नरकमें भी मल, पीव आदि। दोनोंसे शुद्धि होती है। एकसे शरीरकी, दूसरेसे जीवके कर्मों वा पापोंकी। यह समता है।

दो०—अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥ १५ (क)॥

अर्थ—जिनका अहंकार शिव हैं, बुद्धि ब्रह्मा हैं, मन चन्द्रमा हैं और चित्त महत्तत्त्व है वा विष्णु हैं। जड़ चेतनसहित विश्वरूप भगवान् रामचन्द्रने मनुष्यरूपमें निवास किया है। (भाव कि देवताओंकी विनतीपर विश्वरूपसे मनुष्यरूप हुए)॥ १५॥

रा० प्र०—अन्तःकरण चार हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार उसीको एक-एक करके पूर्वार्द्धमें कहा। ('चर अचरमय' पाठान्तर है)

टिप्पणी १—अहंकार क्रोध है अतः उसे शिव कहा। चित्त महत्तत्त्व है जिससे सब होता है [महान्=आत्मा वा महाविष्णु। (करु०)] टिप्पणी २—'मनुज वास……' अर्थात् मनुष्य हैं, इनका चराचरमें निवास है, रूपसे राम हैं। अथवा, मनुजमें जिनका वास है और जिनमें मनुजका वास है जो चराचररूप हैं। ☞ मिलान कीजिये—'**नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बुरेतो द्यौः शीर्षमाशा श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी। चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो**

* 'की बहु कल्पना' पाठान्तर है। अर्थ दोनोंका आ गया।

जठरं भुजेन्द्रः॥' (भा० १०। ६३। ३५) (रुद्रजी कहते हैं) आकाश आपकी नाभि है, अग्नि मुख, जल वीर्य, स्वर्ग मस्तक, दिशाएँ कान, पृथ्वी चरण, चन्द्रमा मन, सूर्य नेत्र, अहंकाररूप मैं (शिव) आपका आत्मा, समुद्र उदर और इन्द्र आपकी भुजा हैं।

वे० भू०—*लोक कल्पना वेद कर*.....।' (१४) से '*रूप राम भगवान।*' (१५) तक। इति। अथर्ववेदके दसवें काण्डके सातवें सूक्त '**सर्वाधारवर्णनम्**' में श्रुति '**कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधितिष्ठति**.....।' '**कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्। कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिताद्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः॥**' आदि ९ मन्त्रोंमें प्रश्न करती है और दसवें मन्त्रसे पूरे सूक्तमें चौंतीस मन्त्रोंमें उत्तर है। इन चौंतीस मन्त्रोंका निष्कर्ष, संक्षेपरूपसे मानसके इस एक दोहेमें रख दिया गया है। इसी तरहके प्रसंगोंको गागरमें सागर कहा जाता है।

नोट—शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌से भगवान्‌का विराट्-रूप श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अ० १ श्लोक २३ से ३७ तकमें कहा है। बहुत अंशोंमें मन्दोदरीका विराट्-रूपवर्णन उससे मिलता-जुलता है। सप्तावरणयुक्त यह ब्रह्माण्ड भगवान्‌का विराट् शरीर वा विशेष देह है। अध्यात्मरामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ९ में कबन्धने गन्धर्व-शरीर पानेपर स्तुति करते हुए कुछ ऐसा ही कहा है। यजुर्वेदके ३१ वें अध्यायमें और ऋग्वेदमें भी विराट्-रूपका वर्णन है। वाल्मी० यु० ११९ में भी अग्निप्रवेश होनेपर देववृन्दने आकर प्रभुके स्वरूपका कथन किया है। पर मानसकथित विश्वरूप भागवतवाले वर्णनसे विशेष मिलता है। भा० स्कन्ध १० अ० ६३ में भी कुछ है। मिलान यहाँ दिया जाता है—

मानस	**श्रीमद्भागवत (श्लोक)**	**अध्यात्मरामायण (३।९)**
'पद पाताल'	१'पातालमेतस्य हि पादमूलम्' (२६)	'पातालं ते पादमूलम्।'(३६)
'सीस अजधामा'	२'सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः'(२८)	'सत्यलोको रघुश्रेष्ठशीर्षण्यास्तेरघूत्तम'(३९)
'भृकुटि बिलास भयंकर काला'	३'तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम्' (३०)	'भ्रूभङ्ग एव कालस्ते'(४१)
'नयन दिवाकर'	४'द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः' (३०)	'चक्षुस्ते सविता राम'(४१)
'कच घनमाला'	५'ईशस्य केशान्विदुरम्बुवाहान्'(३४)	
'जासु घ्रान अश्विनीकुमारा'	६'नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धः'(२९)	'अश्विनौ नासिके राम'(४०)
'आनन अनल'	७'मुखमग्निरिद्धिः'—(२९)	'वक्त्रं तेऽग्निरुदाहृतः'(४०)
'निसि अरु दिवस निमेष अपारा'	८'पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च'(३०)	'निमेषोन्मेषेण रात्रिर्दिवा'(४४)
'श्रवन दिसा दस'	९'कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः'(२९)	'दिशः श्रुतिः'(४०)
'मारुत स्वास'	१०'अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा'(३३)	
'निगम निज बानी'	११'प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वता यस्य सतीं स्मृतिं हृदि। स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्'	'वाचश्छन्दांसि ते'(४२)
'अधर लोभ'	१२'व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभः'(३२)	
'जम दसन कराला'	१३'दंष्ट्रायमः'(३१)	'यमस्ते दंष्ट्रदेशस्थः'(४२)
'माया हास'	१४'हासो जनोन्मादकरी च माया'(३१)	'हासो मोहकरी माया'(४३)
'बाहु दिगपाला'	१५'इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः'(२९)	'इन्द्रादयो लोकपाला बाहवस्ते'(४०)
'अंबुपति जीहा'	१६'आपोऽस्य तालू रस एव जिह्वा'(३०)	
'सरिता नस जारा'	१७'नद्योऽस्य नाड्योऽथ'	'नाड्यो नद्यस्तव'(४४)
'रोमराजि अष्टादस भारा'	तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र'(३३)	'रोमाणि वृक्षौषधयः'(४५)
'अस्थि सयल'	१८'गिरयोऽस्थिसङ्घाः'(३२)	
'उदर उदधि'	१९'समुद्रो जठरम्—(भा० १०।६३।३५)	
'उत्पति पालन प्रलय समीहा'	२०—१४(५) में देखिये	
'जगमय प्रभुका बहु कल्पना'	२१'स वै भगवान्पुरुषो लोककल्पः'(भा० १०।६३।३६)	

'अहंकार सिव'	२२ 'आत्मा अहम्'(१०।६३)	'रुद्रोऽहंकाररूपस्ते।'(४२)
'बुद्धि अज'	२३ 'विरिञ्चो धिषणा' (१०।६३)	'बुद्धिस्ते वाक्पतिर्भवेत्' (४१)
'मन शशि'	२४ 'मनश्च स चन्द्रमाः' (३४)। 'चन्द्रो मनः' (१०।६३)'	मनश्चन्द्र उदाहृतः'(४१)
'चित्त महान्'	२५ 'विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तः-करणं गिरित्रम् (३५)	'महिमा ज्ञानशक्तिस्ते' (४५)
'मनुज बास सचराचर'	२६ 'वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः'(३६)	
'रूप राम भगवान्'	(सब प्राणी उनका निवास-स्थान हैं।)	

दो०—अस बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बयरु बिहाइ।
प्रीति करहु रघुबीरपद मम अहिवात न जाइ॥ १५(ख)॥

अर्थ—हे प्राणपति! सुनिये। ऐसा विचारकर प्रभुसे वैर छोड़कर श्रीरघुवीरके चरणोंमें प्रेम कीजिये, जिससे मेरा सुहाग न जाय॥ १५॥

टिप्पणी—*'अस बिचारि'* इति। भगवान् रामचन्द्रजीके स्थूल अर्थात् विराट्-रूपके कथन करनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के इस रूपको निश्चित करनेसे मोक्षलक्षणयोग शीघ्र ही प्राप्त होता है। श्रीशुकदेवजीने विराट्-रूप-कथनके आरम्भमें यह कहकर कि **'स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया'** अर्थात् भगवान्‌के स्थूलरूपमें बुद्धिद्वारा मनको लगावे, फिर विराट्‌के अङ्गोंका वर्णन करके अन्तमें बताया है कि चित्तको इस रूपकी धारणामें स्थिर करनेका यह फल है—**'इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सिन्नवेशः कथितो मया ते। संधार्यतेऽस्मिन्वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किंचित्॥ स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः। तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः॥'** (३८-३९)

(अ० रा० में भी विराट्‌का वर्णन करके गन्धर्व कबन्धने यही फल कहा है।)

अर्थात् ईश्वरके विग्रहका इतना सन्निवेश है, अर्थात् विराट्‌के स्थूल शरीरका यही स्वरूप है जो मैंने तुमसे कहा है। इस स्थूल शरीरमें मनकी धारणा बुद्धिसे होती है, इससे भिन्न कुछ भी नहीं है। वही ईश्वर सबकी बुद्धि-वृत्तियोंका अनुभव करनेवाला है, जैसे स्वप्नकी सृष्टिका देखनेवाला एक आत्मा ही है। उसी सत्य आनन्दनिधिका भजन करना चाहिये, अन्यत्र आसक्त न हो; क्योंकि अन्यासक्तिमें आत्माका पतन ही होता है।

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें जो भाव है वही पूज्य कविने *'अस बिचारि'* और *'प्रीति करहु रघुबीरपद'* से जनाया है। श्रीकागभुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे यही कहा है कि प्रभुका यह स्वरूप जाननेपर रघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम होता है, यथा—*'भुअन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥ सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि येहि चरित तिन्हहु रति मानी॥'* (७। २२) सारांश यह कि मन्दोदरीने यह विराट्-रूप वर्णन किया कि यदि रावण इस महिमाको सुनकर समझेगा तो अवश्य वह विरोधको त्यागकर प्रभुकी शरण हो जायगा। पर उसने इसे हँसीमें उड़ा दिया।

नोट—१ *'सुनहु प्रानपति'* उपक्रम है और *'अस बिचारि सुनु प्रानपति'* उपसंहार। नोट—२ *'प्रभु सन बयरु बिहाइ'* का भाव कि ये प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, समर्थसे वैर उचित नहीं। *'नाथ बयरु कीजै ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाही सों॥'* (दोहा ६। ५।' देखिये। नोट—३ *'प्रीति करहु रघुबीरपद'* इति। पिछली बार भी मन्दोदरीकी यही अन्तिम प्रार्थना थी—*'नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात॥'* (७) भाव कि सोहाग न जाय इसका एकमात्र यही उपाय है।

बिहसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह महिमा बलवाना॥ १॥

शब्दार्थ—**मोह**=कुछ-का-कुछ समझनेवाली बुद्धि।=प्रेम।

अर्थ—स्त्रीके वचन कानोंसे सुनकर रावण खूब हँसा (और बोला—) अहा! (क्या ही आश्चर्य है!) मोहकी महिमा बड़ी बलवती है॥ १॥

नोट—१(क) *'बिहसा'*। इससे स्त्रीके वचनोंका निरादर जनाया। हँसकर दिल्लगीमें बात उड़ाता है। मोहका बल देख हँसा कि कैसा बड़ा बलवान् है। [पंजाबीजीका मत है कि यह प्रसन्नताकी हँसी है। वह प्रसन्न हुआ कि मैं उनको परमेश्वर मानकर हठ कर रहा हूँ और इसके वचनसे भी वे परमेश्वर ही सिद्ध होते हैं। करुणासिन्धुजीका मत है कि रावण हँसा कि इतना जानती है तो भी अनित्यको नित्य मानकर संसार-सुखकी चाह करती है, अर्थात् अपने अहिवातके स्वार्थहेतु परमेश्वरकी शीघ्र-प्राप्तिमें बाधा डालती है। यह मोहका प्रताप है।] (ख) *'सुनि काना'* का भाव कि मन्दोदरीने विनय की थी *'सुनहु प्रानपति बिनती मोरी'*, अतः रावणने सब सुना। पुनः, *'सुनि काना'* से यहाँ मन्दोदरीके वचनोंका उपसंहार जनाया; *'सुनहु प्रानपति बिनती मोरी'* १४(७) उपक्रम है। (ग) *'अहो मोह महिमा बलवाना'* इति। 'अहो' **इति आश्चर्येण।** इससे जनाया कि वह विस्मित हो गया कि मोह ऐसा बलिष्ठ है कि मुझ दिग्विजयीकी स्त्रीको भी उसने दबा लिया। [इससे सिद्ध हुआ कि रावण अपनेको मोहित नहीं समझता।] (रा० प० प०) मोहकी महिमापर आश्चर्य कहकर सूचित किया कि मोह जीतनेका उपाय रावणको अलभ्य है। (रा० प्र०) महिमा बलवान् है अर्थात् मोहमें मनुष्य अंधा हो जाता है, उसे यथार्थ बात नहीं सूझती। यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* (७। ७०)

पं०—भाव कि जिसकी आज्ञा चराचरमात्र शिरोधार्य किये है, उस (मुझ) त्रैलोक्याधिपतिको यह जीव समझती है और जो मनुष्य है एवं राज्यसे भी जिसका निर्वासन हो गया है और जिसकी आज्ञा केवल वानर मानते हैं उसे वह ईश्वर मानती है।

शु० ला०—*'अहो मोह महिमा·····'* का भाव कि देखिये तो कि यह अपने ही मुखसे तो शत्रुका पराजय और मेरा विजय कह रही है। उसपर भी मुझे बलहीन और शत्रुको बलवान् जानती है।

नारि सुभाउ सत्य कबि* कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ २॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥ ३॥

शब्दार्थ—**अनृत**=झूठ। **चपलता**=चंचलता, उतावली। ढिठाई। **अबिबेक**=सत्-असत्-विचार-रहित।

अर्थ—कवियोंने स्त्रीका स्वभाव सत्य ही कहा है कि उनके हृदयमें आठ दोष सदा रहते हैं॥ २॥ साहस, झूठ, चंचलता, माया, भय, अज्ञान, अपवित्रता और निर्दयता॥ ३॥

नोट—१ *'साहस'* शब्दके अर्थ और शब्दसागरमें ये दिये गये हैं। (१) वह मानसिक गुण या शक्ति जिसके द्वारा मनुष्य यथेष्ट बलके अभावमें कोई भारी काम कर बैठता है या दृढ़तापूर्वक विपत्तियों तथा कठिनाइयों आदिका सामना करता है। हिम्मत, हियाव। (२) जबरदस्ती दूसरेका धन लेना। (३) दुष्टकर्म। (४) द्वेष। (५) अत्याचार। (६) क्रूरता, बेरहमी। (७) परस्त्रीगमन। (८) बलात्कार। (९) दंड, सजा। (१०) जुर्माना।

यहाँ रावण स्त्रियोंके स्वभावके अवगुण कह रहा है। अतएव अर्थ (१), (७), (९) और (१०) से यहाँ कोई तात्पर्य नहीं है। रहे अवगुणसम्बन्धी अन्य अर्थ। इनमेंसे (५) और (६) *'अदाया'* में आ गये। अब शेष चार रहे—लूटना, दुष्टकर्म, द्वेष और बलात्कार। इसके अतिरिक्त शब्दसागरमें 'साहसिक' शब्दका यह अर्थ किया है—'कर्कश वा कठोर वचन बोलनेवाला, हठीला।' इससे साहसका अर्थ 'कठोर वचन कहना' और 'हठ' सिद्ध होता है। प्रसङ्गानुकूल 'कठोर वचन कहना' और 'हठ' ये दोनों अर्थ जान पड़ते हैं। अन्य टीकाकारोंने 'साहस' शब्दपर अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं।

पं०, मा० म०, शीला—ये आठों अवगुण रावणने मन्दोदरीमें दिखाये हैं—(१) यद्यपि जानकीजीको न देनेका मेरा निश्चय देख लिया है तो भी पुनः-पुनः देनेको कहती है, यह 'साहस' है। (२) हमारे पावन यशको त्यागकर मनुष्यका यश बराबर कहती है—यह अनृत है। (मा० म०) राम दशरथपुत्र और मनुष्य हैं, उनको ईश्वर कहती है (शीला)। (३) हमारे गुणोंके लक्षणोंको विराट्में कहे, यह चपलता

* कबि—(का०, मा० म०), सब—(भा० दा०)

है—(शीला)। कभी हाथ जोड़ती, कभी पैरों पड़ती, कभी गलेसे लगती, क्षण-क्षण अनेक उपाय अभीष्ट-सिद्धिके लिये करती है—यही मुख्य चपलता है। (म० म०) (४) आँचर पसारती है, कभी रोती है कि मेरा सौभाग्य न रहेगा, कभी शत्रुका बल दिखाकर डरवाती है और कभी उसका विराट्-रूप कहकर इत्यादि। —यह सब माया है। (५) नरवानरोंसे डरती है—यह भय है। (६) मेरा महत्त्व नहीं जानती और मेरे गुण शत्रुमें आरोपण करके मुझे सुनाती है। यह अविवेकका सूचक है। (७) 'असौच', यथा—*'सहज अपावनि नारि'''''।'* (आ० ५) (८) अदाया। (क) सीतापर दया नहीं कि जो उसे राजमहल छुड़ाकर तपस्वियोंको देनेको कहती है। मुझपर दया नहीं, मैं उसके द्वारा परमपदको प्राप्त करना चाहता हूँ उससे मुझे रोकती है। (पं० मा० म०) (ख) जो नर-वानर-भालु निशिचरोंके आहार हैं, वे दैवयोगसे राक्षसोंको बैठे भक्षणके लिये मिल गये उन्हें निशिचरोंके पाससे हटा देना चाहती है। इसको निशाचरोंपर दया नहीं। (शीला)

नोट—२ *'सत्य कबि कहहीं।'* भाव कि—(१) कवि लोग बहुत झूठ भी लिखते हैं पर यह कविताई न समझो, यह सत्य ही कहा है। (२) मैं पहिले समझता था कि यह झूठ है, पर आज तुझमें सब सत्य ही देखकर उनकी सत्यताका निश्चय हो गया। (शीला)

पं० रा० चं० दूबे (तुलसीग्रन्थावली)—गुसाईंजीके ग्रन्थ दो दृष्टियोंसे देखे जा सकते हैं। एक महाकविकी कृतिकी और दूसरी विरक्त साधुकी कृतिकी दृष्टिसे। कविदृष्टिसे गुसाईंजीने नारी-चरितका चित्रण किस खूबीसे किया है, उनकी दृष्टिमें स्त्रीका कितना उच्च स्थान है, महारानी मन्दोदरीका चित्र भी उसी उच्चादर्शकी ओर संकेत करता है। रावणको जो कोई समझानेका प्रयत्न करता है, भाई, पुत्र, वृद्ध मन्त्री सभीको कटु वचन सुनने पड़ते हैं, ठोकरें खानी पड़ती हैं; पर जब मयतनुजा वही बात कहती है तब वह सिर्फ हँसकर टाल दी जाती है। एक बार भी कटु शब्दका प्रयोग नहीं होता। यद्यपि महारानी कठोर-से-कठोर शब्दोंका प्रयोग कर डालती है, पर पतिदेव चुपचाप सहन कर लेते हैं।

लंकादहनके पश्चात् लंकेश्वरी पतिको समझाते हुए कहती है—*'तासु नारि निज सचिव बुलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥ सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे॥'* इतना ही नहीं, कुछ और भी—*'रामबान अहिगन सरिस निकर निसाचर भेक। जब लगि ग्रसत न तबहिं लगि जतन करहु तजि टेक॥'*

इतना कह डालनेपर भी लंकेश्वर केवल—*'बिहँसा जगत बिदित अभिमानी'* और दो-चार चिकनी-चुपड़ी बातें कह डालीं और फिर *'अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ममता अधिकाई॥'*

श्रीरामचन्द्रजी समुद्र पार कर लंकाद्वीपमें पहुँच जाते हैं। *'मंदोदरी सुनेउ प्रभु आयो। कौतुक ही पाथोधि बँधायो॥'* भावीका चित्र उसकी आँखोंके सामने खिंच जाता है। वह फिर समझानेका प्रयत्न करती है—*'कर गहि पतिहिं भवनु निज आनी। बोली परम मनोहर बानी॥'* *'तुम्हहिं रघुपतिहिं अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा॥'*

कैसी फटकार है! जिसकी सभामें—*'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकहिं सकल सभीता॥'*, उसीको खल-खद्योततक कह डाला, और जिस शत्रुको वह तपसी ही कहता रहा और जिसके साहसको—*'भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग बिलासा॥'* समझता रहा, उसीको महारानी दिनकर बताती हैं और वह इस उपदेशामृतको सानन्द सुन रहा है। यहाँतक कह डाला जाता है—*'रामहिं सौंपहु जानकी नाइ कमलपद माथ। सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ॥'*

यह तो *'मनहुँ घाव महँ माहुर देई'* वाली बात है। रावणको Abdication राज्याधिकार छोड़नेतकके लिये कहा जाता है। यह लम्बा-चौड़ा व्याख्यान कटुवचनोंसे भूषित महाराज सुन रहे हैं और जब समाप्त हो जाता है—*'तब रावन मय सुता उठाई। कहै लाग खल निज प्रभुताई॥ सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना॥'* इतनी बड़ी कड़ी बातें सुननेपर भी महारानी वही 'प्रिया' हैं। इसको स्त्रीका आदर कहा जाय या अनादर, पाठक स्वयं विचार लें।

तीसरी बार मन्दोदरी फिर एक लम्बा-चौड़ा उपदेश दे डालती है और उसमें शत्रुका और भी विकट

बखान करती है। यह उस समयका वर्णन है जब लंका-शिखरपर महफिल जम रही है, नाचरंग हो रहा है और रघुनाथजीने *'छत्र मुकुट ताटंक सब हते एक ही बान। सबके देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥'* पर इस बार लंकापति—*'बिहँसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह महिमा बलवाना॥ जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि मिस कहेउ मोरि प्रभुताई॥ तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि॥'*

महारानीकी लम्बी-चौड़ी बातोंको मजाकमें उड़ा दिया जाता है। इसी उत्तरमें लंकाधिपति कुछ स्त्रीचरितके विषयमें भी कह डालते हैं— *'नारि सुभाव सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥'*

गुसाईंजीके द्वारा स्त्रियोंकी जो निन्दा की गयी है, उसकी पुष्टिमें यह भी एक प्रमाण पेश किया जाता है। यह किसी संस्कृत श्लोकका अनुवाद है।

'असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता। निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥'*

पर इस निन्दाके असली कर्ताका नामतक नहीं लिया जाता, और बेचारे गुसाईंजीके माथे सारा दोष मढ़ा जाता है। सच पूछिये तो कविने इसको ऐसे स्थानमें जड़ दिया है जिससे इसकी भयंकरता लुप्तप्राय हो गयी है और इसमें केवल परिहासकी छटा रह गयी है। अँग्रेजी कवि 'स्काट' ने इससे भी अधिक निन्दा की है।

एक बार फिर मन्दोदरी समरानलको भभकनेसे रोकनेका प्रयत्न करती है और इस बार ऐसी जली-कटी सुनाती है कि हद हो गयी। श्रीबालिकुमार अङ्गदजी अपना दूतकार्य कर बिदा होते हैं। लंकेश्वर अन्तःपुरमें पधारते हैं और उनका मधुर शब्दोंसे स्वागत होता है—*'कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहिं रघुपतिही॥.....'* इत्यादि। कैसे कड़े शब्द हैं। पर लंकापति इनको चुपचाप सुन लेते हैं, करारी-करारी बात होनेसे कुछ उत्तर नहीं बन आता। उसको ये शब्द कड़वे जरूर लगते हैं, लेकिन फिर भी उस नीतिका अवलम्बन नहीं करता जिसमें गुसाईंजीने कहा है—

'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥'

न 'Ajax' (एजैक्स) के समान यही आज्ञा दी जाती है, Silence 'बस चुप'। इसके विपरीत लंकेश्वर—*'नारिबचन सुनि बिसिख समाना। सभा गएउ उठि होत बिहाना॥'*

कैसा जब्त है! यहाँपर भी स्त्रीजातिके प्रति उच्च आदरका ही भाव झलकता है।

वे० भू०—*'नारि स्वभाव सत्य कबि कहहीं।'* इति। शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनशाखाकी वाजिसनेयि-संहिताके चालीसवें अध्यायके आठवें मन्त्रमें **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।'** आदि कहकर ब्रह्मको कवि कहा है। ब्रह्मका कथन वेद है। अभी-अभी मन्दोदरीने भी *'निगम निज बानी'* कहा ही है। 'रावण वेदोंका पंडित था।' ऐसी ख्याति विद्वत्संसारमें व्याप्त है। अतः यहाँ रावणके *'कबि कहहीं'* का अभिप्राय प्राकृत कवियों एवं वेद दोनोंसे हो सकता है। वेदमें स्त्रियोंके गुण, अवगुण दोनोंका प्रचुर वर्णन पाया जाता है। यहाँ रावण अवगुण वर्णन कर रहा है। अतः वेदकथित कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—(१) **'गूह्वी तमो ज्योतिपोषा अवोधि। अग्रएति युवतिरह्रयाणा।'** (ऋग्वेद ७। ८०। २), (२) **'सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति।'** (ऋ० १। ११७। १८), (३) **'अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः। पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजानतागभीरम्॥'** (ऋ० ४। ५। ५); (४)**'अरे मत् रहसूरिवागः।'** (२। २९। १); (५) **'कुहस्विद् दोषा कुहवस्तोरश्विना कुहाभिपित्वंकरतः कुहोषतुः।'** (ऋ १०। ४०। २ पूरासूक्त १४ मन्त्र); (६) **'गोष्ठं गाव इवाशत।'** (ऋ० ८। ४३। ४); (७) **'एवस्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षुसीदति। गच्छन् जारो न जोषितम्॥'** (९। ३८। ४); (८) **'योषा जारमिव प्रियम्। अगन्नाजि यथाहितम्॥'** (ऋ० ९। ३२। ५); (९) **'सरजारो न जोषणां वरो न योनिमासदम्॥'** (९। १०१। १४); (१०) **'युवेहि मक्षा पर्यश्विना मध्वोसा भरत निष्कृतं न योषणा॥'** (ऋ० १०। ४०। ६); (११) **'पुरूरवो मा मृथा मा प्रतमो मा त्वा बृकासो अशिवास**

---

* 'अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता। अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥' (१ सु० र० भ० स्त्रीस्वभावनिन्दा)

उक्षन्। न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता॥' (ऋ० १०। ९५। १५); (१२) 'यस्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते। प्रजायंस्ते जिघांसति तमितो नाशयामि॥' (ऋ० १०। १६२। ५); (१३) 'मोघसंहिता एवं योषा'''।' (शतपथ ब्राह्मण ३। २। ४। ६) श्रीगोस्वामीजीपर नारी-निन्दाका दोषारोपण करनेवाले स्वयं समयनोचक (समालोचक) पंडितम्मन्य जनोंको चाहिये कि इन वेदमन्त्रोंको ध्यानपूर्वक देखें।

☞ 'गोस्वामीजी और नारिजाति' के विषयमें कुछ लेख अ० २८५, आ० २८ (१—३), ३। २९(७। ११), ३। ४४, और सुं० दोहा ५९ (६) इत्यादिमें दिये जा चुके हैं, पाठक वहाँ देख लें।

रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा॥ ४॥
सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥ ५॥
जानिउँ प्रिया तोरि चतुराई। ऐहि बिधि* कहेउ† मोरि प्रभुताई॥ ६॥

अर्थ—तूने शत्रुका अत्यन्त बड़ा (विराट्) समग्र रूप विस्तारसे कहकर मुझे बहुत बड़ा डर सुनाया॥ ४॥ हे प्रिये! वह सब स्वभावसे ही मेरे वशमें हैं। अब तेरी कृपासे मुझे यह समझ पड़ा॥ ५॥ हे प्रिये! तेरी चतुरता मैं समझ गया। तूने इस बहाने, मेरी प्रभुता कही है॥ ६॥

टिप्पणी—*'सब सहज बस मोरे'''।'* क्योंकि वरुण, कुबेर, यम, अग्नि, काल, इन्द्र, चन्द्रमा, शिव, ब्रह्मा ये ही सब तुमने शत्रुके अङ्ग बताये, सो ये सब मेरे वशमें हैं ही—दोहा ७ (२) देखिये। मैं यह न जानता था कि ये सब शत्रुके अङ्ग ही हैं, अब तुम्हारी कृपासे जान पड़ा।

पं०—*'समुझि परा अब'*। तात्पर्य कि गम्भीर स्वभावके कारण मैं अपने गुणोंकी ओर दृष्टि नहीं करता था, तेरे कहनेपर जाना। 'प्रसाद' पद सम्मान, हेतु है। अथवा, भाव कि जिसका विराट्रूप मेरे अधीन है उसके मनुष्यतनको दीन कर देना क्या बड़ी बात है?

पं०, मा० म०—*'एहि बिधि'''।'* भाव कि मुखपर प्रशंसा करना अनुचित है, लोग खुशामदी कहते हैं। अतः यह उचित है कि किसीकी ओटसे प्रशंसा करे। बस इसी कारण तूने विराट्के रूपके मिष मेरी प्रशंसा की। यही तेरी चतुराई है—[वीर—यहाँ रावणको अभीष्ट तो है मन्दोदरीकी बात उड़ाना, उसको बहानेसे पलटकर कार्यसाधनका प्रकार इच्छानुसार वर्णन करना, 'द्वितीय पर्यायोक्ति अलंकार' है।]

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयसोचनि‡॥ ७॥
मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पिअहि काल बस मति भ्रम भयऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—ठयऊ=ठाना, निश्चय किया, दृढ़ संकल्प किया। यथा—*'जब ते कुमत कुमति जिय ठयऊ'* (अ)।

अर्थ—हे मृगनयनी! तेरी 'बतकही' (वाणी) गूढ़ (छिपी हुई, शीघ्र जो न समझमें आ सके, गम्भीर भावयुक्त) है। समझनेमें सुख देनेवाली और सुननेसे भयकी सूचना देनेवाली है॥ ७॥ मन्दोदरीने मनमें ऐसा निश्चय कर लिया कि पतिको मृत्युवश भ्रम हो गया है। (*'सो सब प्रिया सहज बस मोरे'*, यही बुद्धिका भ्रम है)॥ ८॥

शीला—*'मृगलोचनि'* सम्बोधनके दो हेतु हैं। एक तो मृगके समान सुन्दर बड़े-बड़े नेत्रवाली जनाया। दूसरे, भाव कि मृगके नेत्र भ्रमयुक्त होते हैं; इसीसे वे *'रविकर बारि'* (मृगतृष्णा) को जल जानकर प्यासके मारे दौड़ते हैं यथा—*'कहि न जाइ मृगबारि सत्य भ्रम तें दुख होइ बिसेषे।'* (वि० १२१) *'मृग भ्रम बारि सत्य जल जानी॥'* (वि० १३६) वैसे ही तुझे औरका और सूझता है।—[मृगीकी चितवनमें भय भी होता है, यथा—*'चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत।'* (१। २२९) मन्दोदरीको सुहागका भय है।]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—यहाँ *'भयसोचनि'* पाठ है, *'भय मोचनि'* नहीं है। सबसे प्राचीन प्रति मानसकी

* 'एहि मिस' पाठान्तर है। † कहहु—गी० प्रे०।

‡ भवसोचनि—काशिराजकी प्रति। भयमोचनि—अन्यमें।

जो श्रीकाशिराजके पुस्तकालयमें है उसमें *'भय सोचनि'* पाठ है। मेरा स्वयं अपनी आँखका देखा हुआ है। *'भय सोचनि'* का अर्थ है 'भयकी सूचना देनेवाली है।' *सूचनि'* का तद्भव रूप *'सोचनि'* है, जैसे 'धुरी' का 'धोरी' रूप हो जाता है। सुखद और भयमोचनि एक ही बात है। इसमें गूढ़ताका स्पर्श भी नहीं है। गूढ़ता दिखानेके लिये लोगोंने जमीन-आसमानके कुलाबे मिलाये हैं, फिर भी व्याख्या प्रसङ्ग-विरुद्ध पड़ जाती है। यहाँ सीधा-सा अर्थ है, रावण कहता है कि 'हे मृगलोचनि! तुम्हारी बतकही गूढ़ है, यदि समझें तो सुखद है, और सुननेमें डरावनी है। *'रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा',* यह तो सुनत भयसोचनि है, और *'सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझ परा प्रसाद अब तोरे॥'* यह 'सुखद' है। यही गूढ़ता है कि बात सुननेमें डरावनी हो, और समझें तो उससे सुख मिले। रावण कहता है कि जब *'पद पाताल सीस अजधामा'* यही शत्रुका रूप है, तो ये सब तो मेरे वशमें हैं, इन्हें मैं जीत चुका हूँ। तेरे प्रसादसे मैंने समझ पाया कि शत्रुको तो मैं पहिलेसे ही जीते बैठा हूँ, अब जीतनेमें क्या रखा है।

नोट—विचार करनेसे मुझे श्रीत्रिपाठीजीका मत समीचीन जान पड़ता है। इसीसे इस संस्करणमें 'सोचनि' पाठ हमने दिया है। 'मोचनि' पाठ प्रायः अन्य सभीमें है, इसलिये उसके भाव भी दे दिये हैं, जो प्रथम संस्करणमें छपे थे।

पु० रा० कु०—१ *'समुझत सुखद·····मोचनि'* इति। भाव कि तुमने श्रीरामके गूढ़ स्वरूप-कथनद्वारा हमें यह जनाकर कि यह मेरा ही स्वरूप है अत्यन्त निर्भय कर दिया और मुझे सुख दिया। परमार्थ-पक्षमें भी समझनेमें सुखद और सुननेसे भयमोचन है।)

पु० रा० कु०—२—कालवश भ्रम हो गया, यथा—'**स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥**' (गीता)

पु० रा० कु०—३—बुद्धिभ्रमका चिह्न देखकर अनुमानबलसे रावणको ध्रुव कालवश समझना 'अनुमान प्रमाण अलङ्कार' है। रावणके 'गूढ़' शब्दमें श्लेषकी ध्वनि है कि भगवान्‌के बाणोंसे मेरी मृत्यु होगी, यह समझनेसे सुखदायी है और परमात्माके हाथसे मारे जानेपर संसारका भय दूर होगा, यह भय छुड़ानेवाला है।—[करु०—एकपाद विभूति भयानक रस वर्णन किया, अतः 'गूढ़' कहा। मंदोदरी उसकी गूढ़ वाणी न समझी] 'बतकही'—बा० ९(१) बा० २३१, में देखिये।

पं०—(१) तात्पर्य यह कि तूने जो समझ लिया है कि मेरा पति ऐसा है इससे तुझको सुख है और जो मेरा प्रभाव सुनेंगे वे भी रामचन्द्रके भयसे निश्चिन्त हो जायँगे। पुनः, (२) भगवत् पक्षमें अर्थ यह है कि जो प्रभुके समष्टि शरीरको समझते हैं उनकी व्यष्टता मिटकर उन्हें सुख होता है और जो सुनते हैं उनके नकारादि भय निवृत्त हो जाते हैं।

दो०—एहि बिधि करत बिनोद बहु प्रात प्रगट दसकंध*।
सहज असंक सुलंकपति† सभा गएउ मद अंध॥१६(क)॥
सो०—फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदय न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सिव‡॥१६(ख)॥

शब्दार्थ—**बिनोद**=हँसी, क्रीड़ा। **मद अंध**=अभिमान वा गर्वके कारण अंधा।

अर्थ—इस प्रकार बहुत हँसी-दिल्लगी करते सबेरा हो गया। स्वभावसे ही निडर और मदान्ध लङ्कापति सभामें गया। यद्यपि मेघ अमृतोपम जल बरसते हैं तो भी बेत फूलता-फलता नहीं। मूर्खके हृदयमें चेत (ज्ञान) नहीं होता चाहे ब्रह्मा और शिव ही उसे गुरु (क्यों न) मिल जायँ॥ १६॥

---

* 'बहु बिधि जलपेसि सकल निसि प्रात भये दसकन्ध।'—(का०) † लंकपति—(भा० दा०), सुलंकपति—(का०)।
‡ सत (का०,मा० म०)। सम—भा० दा० १७६२। शिव—क०, १७२१।

टिप्पणी—विरंचि वेदोंके कर्ता और शिव ज्ञानके स्वरूप हैं। यद्यपि यहाँ विष्णुको नहीं कहा तथापि *'बिधि हरि हर'* इन तीनोंका सहचारित्वधर्म है, इससे विष्णुका भी ग्रहण होता है। गुरुदेवके विषयमें त्रिदेवत्व कथन है, यथा—**'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।'** अतएव 'विष्णु' का भी यहाँ ग्रहण होगा।

मा० हं०—यह देखने योग्य है कि मन्दोदरीके उपदेशका परिणाम इस सोरठेमें कैसी मार्मिक रीतिसे दर्शाया गया है।

मा० म०—भाव कि जब श्रेष्ठगुरु ईश्वर हार जाते हैं और मूर्खको उपदेश नहीं लगता तब स्त्री क्योंकर उपदेश करके जीत सकती है।

रा० बा० दा०—विरंचिका रावण परनाती है और शिव गुरु वा इष्टदेव हैं। अतएव इन दोनोंका उपदेश देना स्वाभाविक ही है। विनयमें कहा भी है—*'संभु सेवक जानि जग बहु बार दियो दससीस। करत राम बिरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस॥ और देवन्हकी कहा कही सब स्वारथहिके मीत।'* इन्हीं दोनोंने इसे आदिमें वरदान दिये हैं अतः यहाँ 'विरंचि शिव' दोनोंको कहा।

वीरकवि—उत्तरार्द्ध उपमेय वाक्य है और पूर्वार्द्ध उपमान वाक्य है। 'फूलना फलना' और 'न चेत होना' दोनोंका एक धर्म समानार्थवाची शब्दोंद्वारा प्रकट करना 'प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार' है।

'तुलसीदासजीकी उक्तियोंमें प्रकृतिपर्य्यवेक्षणकी प्रतिकूलता'

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'मुकुन्द' 'साहित्यरत्न'—बाबू श्यामसुन्दरदासजीने अपने 'साहित्यालोचनमें कविताका विवेचन' करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीके इस सोरठेमें प्रकृति-पर्यवेक्षणकी प्रतिकूलता बतलायी है। बाबूसाहबका कहना है कि 'बेत जरूर फूलता-फलता है पर इसमें प्रदर्शित किया गया है कि वह फूलता-फलता नहीं। इसकी समालोचना श्रीयुत कालीप्रसादसिंह चौधरीजीने 'माधुरी' की विगत वर्षीया नवीं संख्यामें उपर्युक्त शीर्षकद्वारा की है। चौधरी साहबका कहना है कि 'सोरठेका वेत शब्द 'वियत' का विकृत रूप है जिसके अर्थ आकाशके होते हैं। आकाश सचमुच फूलता-फलता नहीं। यही भाव तुलसीदासजीका था।'

अब पं० धनेश्वप्रसाद पाठकजीने श्रावणकी 'कविकौमुदी' में चौधरी साहबके लेखकी समालोचना की है। पाठकजीका कहना है कि 'तुलसीदासजीने ऐसा क्यों लिखा? यह कहा नहीं जा सकता। क्योंकि बेतके फूलने-फलनेके भी दृष्टान्त मौजूद हैं और न फूलने-फलनेके भी।······यदि तुलसीदासजीने लिख दिया कि *'फूलइ फरइ न बेत'* तो यह उनकी गलती नहीं—प्रकृतिहीने उन्हें भुलावा दिया।'

किन्तु खेदके साथ कहना पड़ता है कि तीनों सज्जन कुछ भूलपर हैं। लोग तुलसीदासजीको और उनकी बातोंको समझनेका प्रयत्न न करके बिना सोचे समालोचना ही करनेपर उतारू हो जाते हैं। लोगोंसे यदि पूछ-ताछ की जाती, तो ये लोग समझ जाते कि तुलसीदासजी जो कुछ कह गये हैं वह कहाँतक ठीक है। तुलसीदासजीने यह भूल की है या उसके समालोचक भूल कर रहे हैं। यह तभी ज्ञात हो सकता है जब समालोचकगण तुलसीदासजीकी बातोंपर बारम्बार विचार करें। साथ ही उनके समय और उनकी परिस्थितिका भी ध्यान रखें।

वस्तुतः 'वेत' दो प्रकारके होते हैं। १—'जलवेत' २—'स्थलवेत'। 'जल-वेत' जिसे संस्कृतमें 'अम्बु-वेतस्' कहते हैं, नदियों या तालाबोंके किनारेपर होता है। यह फूलता-फलता है। किन्तु 'स्थल-वेत' जिसे संस्कृतमें 'बंजुल' कहते हैं, यह पर्वतोंपर होता है, फूलता-फलता नहीं। तुलसीदासजी चित्रकूटमें रहते थे, वे बराबर ऐसे ही वेत देखते रहे, जो कभी फूलता-फलता ही नहीं। अतएव यदि उन्होंने ऐसा लिखा तो ठीक लिखा, कुछ बुरा नहीं किया। फिर तुलसीदासजी 'बेत' के लिये जलदकी आवश्यकता बतलाते हैं। वह 'जल बेत' (जो फूलते-फलते हैं) के लिये कैसे सुसङ्गत होगी? क्योंकि नदी या सरोवरके किनारे रहनेके कारण इनकी प्यास तथा अन्य आवश्यकताओंकी पूर्ति तो नदी या सरोवरसे हो ही जायगी। इनके लिये जलद बरसे या न बरसे, दोनों ही बराबर हैं। रहे 'स्थल-वेत' (जो फूलते-फलते नहीं)

सो इन्हें अपनी जीवनरक्षाके निमित्त चातककी भाँति जलद-जीवन (जल) की आवश्यकता रहती है।

फिर तुलसीदासजीने ही ऐसा लिखा है सो बात नहीं है। फारस देशका प्रसिद्ध कवि, गुलिस्तां-बोस्तांका लेखक शेखसादी (शीराजी) भी ऐसा ही लिख गया है जो तुलसीदासजीसे ३०० वर्ष पहले हुआ था। शेखसादी लिखता है—

'अब्र गर आबेज़िन्दगी बारद। हरगिज़ अज़ शाखे बेद बर न खुरी॥'*

शेखसादीका शेर पढ़नेसे ज्ञात होता है कि तुलसीदासजीने तो ठीक उसका अनुवाद ही कर दिया है; पर तुलसीदासजीने अनुवाद नहीं किया है, अपने अनुभवसे लिखा है। सादी अलबुर्जके पहाड़ोंको नित्य देखता था जिसमेंके पैदा हुए 'वेत' फूलते-फलते न थे। अतएव उसने भी 'वेत' का न फूलना-फलना लिखा। भिन्न-भिन्न देशके पर्वतवासी दो कवियोंने एक ही बातका अनुभव किया और उसे लिखा। दोनोंके भाव टकरा गये।

केवल वेतमें ही 'जल-बेत' और 'स्थल-वेत' दो भेद हों या इसीमें 'फूलने-फलने' और 'न फूलने-फलने' का भेद पाया जाय, ऐसी बात भी नहीं है। और भी बहुत-सी वस्तुओंमें ऐसे भेद पाये जाते हैं। जैसे 'कमल' कहनेसे सरोबर या नदीमें पैदा होनेवाले कमलका ही सबको बोध होता है किन्तु स्थलकमल भी होता है जो जल-कमलकी अपेक्षा बड़ा होता है, इसका भी वर्णन लोगोंने किया है। इसमें फल (कमलगट्टा) नहीं होता।

इसी प्रकार अशोक वृक्षके भी कई भेद हैं। एक फूलता-फलता है और एक केवल फूलता है, फलता नहीं। और भी बहुत-से वृक्षोंमें इस प्रकारके भेद पाये जाते हैं। कवि जिसका जैसा अनुभव करेगा वैसा ही लिखेगा। उसको दोष देना भूल है।

ऊपरकी बातोंसे पाठकगण समझ गये होंगे कि न तो 'वेत्त' शब्द 'वियत' शब्दका विकृतरूप है और न तो तुलसीदासजीने 'रामचरितमानस' में ***'फूलइ फरइ न बेत'*** लिखकर कुछ भूल की है। ऐसा लिखना उनके लिये स्वाभाविक था और ऐसा उन्होंने लिखा तो बहुत ठीक लिखा। क्योंकि जिस बातको हम प्रत्यक्ष देखते हैं उसका वर्णन यदि यथातथ्य करें तो इसमें हम दोषके भागी नहीं, बल्कि स्पष्टवक्ता कहे जायँगे।

अस्तु गोस्वामी तुलसीदासजीके समालोचकोंने उन्हें और उनकी बातोंके समझनेमें भूल की है न कि यह भूल तुलसीदासजीकी है। मैं आशा करता हूँ कि अब सब लोगोंका भ्रम दूर हो जायगा। फिर भविष्यमें समालोचक-युवक इस विषयपर व्यर्थ ही दिमाग-पच्ची करके ऊटपटांग अर्थ निकालनेका प्रयत्न न करेंगे, क्योंकि इस प्रकारके बुद्धिविलाससे साहित्य-हत्या ही होती है, किसी प्रकारका लाभ नहीं होता और बेचारे पढ़नेवाले भी भ्रममें पड़ जाते हैं। उन्हें यह निश्चय ही नहीं होने पाता कि किसकी बात ठीक है।—(कविकौमुदी वर्ष १ संख्या ८। ९)

वे० भू०—कोषोंमें वेत शब्दके कई पर्याय बतलाये गये हैं! कई वर्ष पूर्व माधुरीमें किसी कोषका यह दोहा प्रकाशित हुआ था—***'वेत कहत आकाश को वेत कहत पाखान। वेत वेंत तृण को कहत वेत कहत हैं पान॥'***

यहाँ ***'फूलइ फरइ न बेत'*** में आकाशका तो ग्रहण नहीं है। क्योंकि आधार नहीं, असम्भवमें सम्भव संघटित नहीं, अभूतपूर्वको तत्त्वतः (निश्चित-रूपेण) कथन नहीं किया जाता है। इसलिये पाषाणका भी ग्रहण नहीं है और वेत तृणको फूलते हुए आज भी देखा जा सकता है। अतः यहाँ वेतसे तात्पर्य 'पानकी लता' से है क्योंकि उसमें कभी भी फूल-फल नहीं होता। देवीपाटनवाले तुलसीदासजी [द्वितीय] रचित प्रश्नोत्तररूपसे दो दोहे पानके अर्थको पुष्ट करते हैं! पानकी लता सदैव हरी रहती है। उसके थालेमें बराबर पानी भरा रखा जाता है; ऊपर एवं चारों तरफसे टट्टर बंद ऐसा छप्पर छाया रहता है कि सूर्य-चन्द्रमाकी किरणें उसे साक्षात् स्पर्श नहीं कर सकती हैं और समय-समयपर नीम, महुआ आदिकी खली खादरूपमें दी जाती है। इन्हीं सब बातोंको एकत्र करके प्रश्नोत्तर किया गया है। वे दोहे ये हैं—***'हरी***

* अर्थ—यदि बादल आबेहयात (अमृत) भी बरसे तो भी वेतवृक्षसे फल कदापि खानेको न मिलेगा।

बेल छाया घनी पानी रेलापेल। कबहूँ नहि फूलै फलै कहियत नागरबेल॥ संगति कीनी खलन की रविशशि सो नहि हेत। तुलसी याही कारणे फूलै फलै न बेत॥' (तुलसीवाणी)

इस प्रश्नोत्तर रूपमें वेत शब्दसे पान [नागरवेल ताम्बूल] की लताका ही ग्रहण किया गया है। और इस जिज्ञासित सोरठेका वेत शब्द सर्वथा पानमें ही संघटित होता है क्योंकि सभी लताएँ फूलती तो हैं ही, कोई-कोई लताएँ फलती भी हैं परन्तु पानकी लता फूलने-फलनेवाली वस्तु होकर भी कभी फूलती-फलती नहीं। यहाँपर यह अर्थ बिना खींचा-तानीके परिष्कृत है, वेत तृण लताको बिना फूलनेवाली कहना तो सरासर सत्यका गला घोटना है। अतः इस सोरठेमें वेतका अर्थ पान ही समीचीन है।

पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी—फूल, फूल-पद-वाच्य तब होता है, जब उसमें सुगन्ध हो, मनोहरता हो और फल, फल-पदवाच्य तब होता है, जब वह खाने योग्य हो। वनस्पतिशास्त्रके ज्ञाता भले ही भड़भाँड़के पेड़के फूलको फूल मान लें और मदारके फलको फल मान लें, परन्तु कविका हृदय तो ऐसे फूल और फलकी गिनती फूल-फलमें नहीं कर सकता। ठीक ऐसा ही पद हम 'गुलिस्ताँ' में पाते हैं, यथा—*'अब्र गर आबे जिन्दगी बारद। हरगिज़ अज़ शाखे बेद बर न खुरी॥'* अर्थ—यदि मेघ अमृतकी वर्षा करे तो भी बेंतकी शाखासे फूल नहीं खा सकता। यहाँ खुरी (खा सकता) शब्दने बातको बहुत स्पष्ट कर दिया कि फलसे यही अभिप्राय है कि जो किसी कामका हो। चाहे जल-बेंत हो चाहे, स्थल-बेंत हो, उसके फल-फूल फल-फूलकी गिनतीमें आने लायक नहीं हैं। यहाँपर भी *'मूरुख हृदय न चेत'* आगे चलकर कहते हैं, तो क्या इसका अर्थ यह किया जायगा कि मूर्ख मूर्छित रहता है? चेत तो उसको भी रहता है, पर वह चेत किसी कामका नहीं। अतः पाण्डित्य प्रदर्शनके लिये निष्प्रयोजन बालकी खाल निकालना उचित नहीं है।

नं० प०—मन्दोदरीने श्रीरघुनाथजीका ऐश्वर्य रावणको बहुत समझाया; परन्तु रावणको भ्रमवश उलटा समझ पड़ा कि हमारा ही ऐश्वर्य इस बहाने कहा है। उसीपर ग्रन्थकारने वेतकी उपमा दी। अमृतकी वर्षा होनेपर भी वेत न फूले न फले, क्योंकि वेतका स्वभाव ही फूलने-फलनेका नहीं है। 'जिसके हृदयमें अज्ञान निश्चय हो गया है उसीको मूर्ख कहते हैं।' श्रीरामजी ब्रह्म हैं पर रावणको भूप निश्चय हो गये हैं, अतः उसे मूर्ख कहा। मूर्खके हृदयमें चेत होनेका गुण नहीं है अतः ब्रह्माके उपदेशसे भी उसके हृदयमें ज्ञान उत्पन्न हो नहीं सकता।

वेतका अर्थ आकाश नहीं हो सकता; क्योंकि जिसमें फूल-फल लगनेका आकार है, उसीके लिये कहा जायगा कि फूल-फल नहीं लगा है। जिसमें फूल-फल लगनेका आकार ही नहीं है उसके लिये फूल-फल लगना क्यों कहा जायगा? जैसे आकाशमें फूल-फल लगनेका आकार ही नहीं है तब उसमें फूल-फल लगनेकी उपमा क्यों दी जायगी कि फूल-फल नहीं लगेगा। जैसे मूर्खका आकार चेत होनेका है, वह मनुष्य है और मनुष्यहीमें चेत होता है; पर मूर्खको चेत नहीं होता। वैसे ही वेतमें फूल-फल लगनेका आकार है, क्योंकि वेत वृक्ष है और वृक्षकी ही लतामें फूल-फल लगता है, परन्तु वेतमें फूल-फल नहीं लगता। अतः आकाश अर्थ अयोग्य है। यदि कहो कि *'फूलइ नभ बरु बहु बिधि फूला'* तो मानसमें ही कहा है तो उत्तर यह है कि यह वचन भी आश्चर्यजनक है। 'बरु फूलै' का भाव ही यह है कि आकाशमें फूल-फल नहीं लगता। अतः यह प्रसङ्ग भी असम्भवतासूचक होकर आकाशमें फूल न होनेकी ही पुष्टि करता है, इसलिये वेतका अर्थ आकाश करना सर्वथा असंगत है।

'सेतु बाँधि कपिसेन जिमि उतरी सागर पार'—प्रकरण समाप्त हुआ।

'गयउ बसीठी बीरबर जेहि बिधि बालिकुमार'—प्रकरण

इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई॥ १॥
कहहु बेगि का करिअ उपाई। जामवंत कह पद सिरु नाई॥ २॥

अर्थ—यहाँ प्रातःकाल रघुनाथजी जगे और प्रभुने सब मन्त्रियोंको बुलाकर सलाह पूछी—॥ १॥ आपलोग शीघ्र कहिये कि अब क्या उपाय करना चाहिये। चरणोंमें मस्तक नवाकर जाम्बवन्तजी बोले॥ २॥

नोट—१ *'इहाँ प्रात जागे रघुराई। ······'* इति। (क) *'इहाँ'*—११ (१) देखिये (ख) *'रघुराई'* कहकर मन्त्र पूछना कहनेका भाव कि रघुवंशी राजा नीतिनिपुण होते हैं, अतः मन्त्रियोंसे पूछते हैं। यथा—*'बोले बचन नीति-प्रतिपालक।'* (सु० ५०) (ग) *'सब सचिव'*—सुग्रीव, विभीषण, हनुमान्, जाम्बवान्, अङ्गद, शरभ, परिवारसहित सुषेण, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, कुमुद, नल और पनस। यथा—**'नरवानरराजानौ स तु वायुसुतः कपिः। जाम्बवानृक्षराजश्च राक्षसश्च विभीषणः॥ अङ्गदो बालिपुत्रश्च सौमित्रिः शरभः कपिः। सुषेणःसहदायादो मैन्दोद्विविद एव च॥ गजो गवाक्षः कुमुदो नलोऽथ पनसस्तथा। अमित्रविषयं प्राप्ताः समवेताः समर्थयन्॥** (वाल्मी० ३७। १—३)' सब दीपदेहरी है।

नोट—२ *'कहहु बेगि का करिअ उपाई।'** इति। (क) *'बेगि'* का भाव कि अब तो शत्रुपुरीमें भी आ गये, अब शत्रुसंहारमें देर करनेका प्रयोजन क्या? फिर शत्रुके बीचमें पहुँचकर असावधान भी न रहना चाहिये। *'अब बिलंबु केहि काम'* मं० सो० १ देखिये।—(ख) *'का करिअ उपाई'* अर्थात् किस प्रकार कार्य सिद्ध करना होगा।—'**कार्यसिद्धिं पुरस्कृत्य मन्त्रयध्वं विनिर्णये**।' (वाल्मी० ३७। ५) (ग) पुनः भाव कि साम, दान, दण्ड और भेद—इन चार उपायोंमेंसे कौन करें—'**सामो दामः दण्डभेदमित्युपायचतुष्टयम्**।' (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'जामवंत कह पद सिरु नाई।'* पाँ०—रघुनाथजीने सब मन्त्रियोंको बुलाकर सबसे पूछा। सबसे पहले जाम्बवन्तके बोलनेका भाव कि श्रीरामजीके तीन मन्त्री मुख्य हैं, जिनमेंसे सुग्रीवका मत विभीषण-शरणागति और विभीषणका समुद्र पार होनेके सम्बन्धमें हो चुका है, यथा—*'कह प्रभु सखा बूझिए काहा। कहइ कपीस सुनहु नरनाहा॥'* (सु० ४३। ५) *'केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा।'······कह लंकेस सुनहु रघुनायक॥'* (सुं० ५०। ५। ७) अब जाम्बवन्तकी बारी है। अतः वे प्रथम बोले। (जाम्बवन्तके मतका सबने समर्थन किया, इस तरह सबका मत आ गया)।

सुनु सरबज्ञ सकल उरबासी*। बुधि बल तेज धर्म गुनरासी॥ ३॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ! हे समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें निवास करनेवाले! हे बुद्धि-बल-तेज-धर्म और गुणोंके राशि! सुनिये॥ ३॥

पु० रा० कु०—सर्वज्ञादिके भाव। आप सर्वज्ञ हैं इसलिये बाह्य सब बातोंको जानते हैं। *'सकल उरबासी'* अर्थात् हृदयमें बसनेसे अन्तर्यामी हैं अतः अन्तःकरणकी जानते हैं, यथा—*'सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।'* (अ० २५७)। *'बुधि बल······'* से जय होती है—६ (५) बुद्धि और बल दोनोंकी राशि हैं। अतः आपके लिये शत्रुपर विजय क्या बड़ी बात है। तेजसे शत्रुमें भय उत्पन्न होता है और धर्मसे जय होती है—'**यतो धर्मस्ततो जयः**, *'सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताके॥'* (७९। ११) आप इन गुणोंकी भी राशि हैं। (पुनः सर्वज्ञादि कहनेका भाव कि ऐसे होकर भी पूछना केवल मर्यादा-पालनार्थ है। रा० प्र०)

शीला—१ विशेषणोंके भाव। आप सर्वज्ञ हैं। अतः जो कुछ हमलोग कहेंगे वह भी आप जानते हैं और वह भी आपका ही कहना है क्योंकि आप सर्व उरवासी हैं। (जो कुछ कोई कहता है वह आपकी प्रेरणासे)। बुद्धि-बलादिकी राशिका भाव कि—(क) आप राशि हैं और हम सब उस राशिके इधर-उधर बिखरे हुए दाने हैं, दाना राशिकी बराबरी नहीं कर सकता। इसीसे आगे कहते हैं कि बुद्धिके अनुसार कहता हूँ। (ख) आप ईश्वर राशिरूप हैं, आप जीवरूप दानेको बढ़ाना चाहें तो बढ़ा सकते हैं, अङ्गदको मान्य दीजिये।

शीला—२ रामचन्द्रजीने सब गुण अङ्गदको दिये—प्रथम रावणका पुत्र मिला उसे मारा, यह बल हुआ। सभामें पहुँचते ही सब सभासद खड़े हो गये—*'उठे सभासद कपि कहुँ देखी।'* यह तेज है। रावणने अङ्गदको फोड़ना चाहा, २१ (५-६) देखिये। पर अङ्गद अपने सेवकधर्ममें दृढ़ रहे, यह धर्म है। रावणसे सत्त्व, रज,

* गुनरासी। सत्यसंध प्रभु सब उरबासी॥—का०; को० रा०।

तम त्रिगुणमय वार्ता उन्होंने की। *'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती'* २० (३) इत्यादि। यह सात्त्विक गुण हुआ। *'सो सुग्रीव केर लघु धावन'* से अपना ऐश्वर्य दिखाया; यह राजस गुण है। और, *'क्रोधवंत तब भयो कपिंदा'* यह तामस गुण है। रही बुद्धि सो तो संवादके आदि, मध्य और अन्त सब प्रसङ्ग भरमें है।

मंत्र कहौं निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालिकुमारा॥ ४॥

अर्थ—मैं अपनी बुद्धिके अनुसार सलाह कहता हूँ बालिपुत्र अङ्गदको दूत बनाकर भेजिये॥ ४॥

नोट—१(क) *'निज मति अनुसारा'* का भाव कि आपको मन्त्र बताना मानो सूर्यको दीपक दिखाना है। (रा० प्र०) (ख) *'दूत पठाइअ।'* भाव कि उत्तम राजाको उचित है कि प्रथम दूत भेजकर शत्रुसे अपना प्रयोजन माँगे, जब वह न माने तब युद्ध करे, यथा—*'प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती।'* (७। ९। १०) इत्यादि। (ग) यहाँ *'बालिकुमारा'* अर्थात् बालिसम्बन्धी नाम देनेका भाव यह है कि बालीके साथ रावणकी सन्धि थी, इसलिये वह अङ्गदको जानता है। इस सम्बन्धसे वह बात करेगा और अपनी ओरसे भी कहेगा। पुन, दूत ऐसा चाहिये कि उसके प्रतापसे शत्रु दब जाय। अङ्गदके जानेसे बालिवधका वृत्तान्त सुनकर और उसके महाबली पुत्रको शत्रुके दौत्यकर्ममें प्रवृत्त देखकर रावण निश्चय ही भयभीत होगा। अथवा, दूतमें दो गुण विशेष चाहिये—वाक्यविशारदत्व और बल—इसमें वे दोनों गुण हैं क्योंकि यह बालिकुमार है।

पु० रा० कु०—जाम्बवन्तने अङ्गदको ही दूत बनाकर भेजनेकी क्यों सलाह दी? उत्तर—तारा और मन्दोदरी दोनों पञ्चकन्याओंमेंसे हैं अतः बहिनें है। यथा—'**अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा। पञ्चकन्याः स्मरेत्प्रातः सर्वपातकशान्तये॥**' (व्यासवचन) [पञ्चकन्या पाठमें सन्देह है। बालकाण्डमें लिखा गया है कि प्राचीन पोथियोंमें यह पाठ नहीं है] इस प्रकार रावण और अङ्गदमें सम्बन्ध है। अङ्गदके पिताको श्रीरामजीने मारा है। अङ्गदको भेजनेसे उसके हृदयका सदसद् अभिप्राय (भेद) भी खुल जायगा, उसकी परीक्षा हो जायगी—यह राजनीतिधर्म विचारकर अङ्गदको भेजनेकी अनुमति दी।—[यह भाव हनुमन्नाटकके अङ्गदसे निकल सकता है, पर मानसके अङ्गद और बाली कुछ और ही हैं।—मा० सं०]

नीक मंत्र सब के मन माना। अंगद सन कह कृपानिधाना॥ ५॥
बालितनय बुधिबलगुनधामा। लंका जाहु तात मम कामा॥ ६॥

शब्दार्थ—मन मानना=स्वीकार करना, अच्छा लगना, पसंद आना, यथा—*'कौसिक कहेउ मोर मनु माना।'* (१। २१४। ६) *'ज्ञान नयन निरखत मन माना॥'* (१। ३७। १)

अर्थ—यह मन्त्र अच्छा है, अतः सबके मनको अच्छा लगा। कृपासागर श्रीरामजी अङ्गदसे बोले—॥ ५॥ हे बुद्धि, बल और गुणोंके धाम बालिपुत्र! हे तात (प्रिय, सौम्य)! तुम मेरे कामके लिये लङ्का जाओ॥ ६॥

नोट—१ *'नीक मंत्र सब के मन माना',* इति। (क) इस पदसे कवि जनाते हैं कि जाम्बवान् सब प्रधान मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ हैं। प्रधान तीन मन्त्री हैं, सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान्। सुग्रीवजीका मत विभीषण-शरणागतिके समय न तो श्रीरामजीको अच्छा लगा था और न हनुमान्‌जीको ही। यथा—*'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥ सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।'* (सुं० ४३) विभीषणजीसे सिन्धु-तटपर सलाह ली गयी; पर उनकी सलाह लछिमनजीको न भायी—*'मन्त्र न यह लछिमन मन भावा।'* (५। ५१। २) श्रीरामजीको भी यह मन्त्र ठीक न जँचा था; पर विभीषणका मन रखनेके लिये उन्होंने उनकी सलाह मानी थी। यथा—*'सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिय देव जौं होइ सहाई॥'* (५। ५१। १) इसीसे लक्ष्मणजीसे सहमत होते हुए उन्होंने कहा कि *'ऐसेहि करब धरहु मन धीरा।'* पर जाम्बवन्तका मन्त्र किसीको भी बुरा न लगा वरन् सबको अच्छा लगा। (ख) *'सब के मन माना'* से जनाया कि सर्वसम्मतसे बालिपुत्रका भेजना निश्चित हुआ। [जो मन्त्र सर्वसम्मत हो वह शुभदायक होता है—*'सब ही कहा मंत्र भल भाई।'* जो सबको नहीं भाता, वह अशुभ होता है।—(पं०)] निश्चित होनेपर श्रीरामजीने अङ्गदजीसे कहा। (ग) **'कृपानिधाना'** के भाव कि अङ्गदको भेजकर उसको यश देंगे। बालीने रावणको अकेला पाकर उसका मान-मर्दन

किया था और यह उसके परिजन, परिवार, सभा आदिके सहित सभाके बीचमें उसका मान-मर्दन करेंगे। यही अङ्गदपर कृपा करते हैं—(शीला)। पुनः, (ख) शत्रुकुलपर कृपा है, इससे इनको दूत बनाकर भेजते हैं। यथा—**'रामः सुवेलाद्रितटेऽवतीर्णः समुद्रमुल्लंघ्य विकीर्णसैन्यः। कृपामुपेत्यारिकुलस्य दूतं सुरेन्द्रनप्तारमथादिदेश॥'** (हनु० ८। १)(अर्थात् समुद्रको पारकर सुवेलतटपर स्थित विस्तृत सेनायुक्त श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंके ऊपर कृपाको प्राप्त होकर इन्द्रके पौत्र अङ्गदको दूत बनाकर आज्ञा देते हुए), ***'कारुनीक दिनकरकुलकेतू। दूत पठायेहु तव हित हेतू॥'*** (३६। २) देखिये। पंजाबीजी लिखते हैं कि कृपा सब भक्तोंपर है; पर इसे बालीने सौंपा है अतः इसपर अधिक कृपा है। इसीसे 'कृपानिधान' कहा। मयंककारका मत है कि रावणको धाम देंगे, यह कृपा है।

नोट—२ ***'बालितनय'*** का भाव कि तुममें बालीके सब गुण हैं—***'यह तनय मम सम बिनय बल''''॥'*** कि० १० छंद २ देखिये। (पं०—बालीका सम्बन्ध अभय जनानेके लिये दिया)। 'बुद्धि-बल-गुन-धाम' अर्थात् दूतमें जो गुण चाहिये वह सब तुममें है—१७(७) देखिये। यह अङ्गदको आशीर्वाद है। कहनेके साथ ही उन्होंने अङ्गदको बुद्धि-बल-गुणधाम बना दिया, यह अङ्गदपर कृपा हुई, यही बात आगे स्वयं अङ्गदजी कहते हैं। यथा—***'सोइ गुनसागर ईस राम कृपा जापर करहु॥'*** (१७)

प० प० प्र०—***'बालितनय बुधि''''*** इति। (क) बालिने स्वयं ही कहा है कि ***'यह तनय मम सम बिनय बल।'*** (४। १० छंद) बाली महाबली अवश्य था, पर विनयी न था; किन्तु अभिमानी था। अङ्गद वैसा नहीं है। भगवान्ने ही उसे ***'बुधिबलगुनधाम'*** बनाया। यही कारण है कि जो अङ्गद पक्षहीन सम्पातीको देखकर घबड़ा गया था, वही अब दशाननको देखकर न डरा। यथा—***'गयउ सभा मनु नेकु न मुरा'।*** (ख) जैसे हनुमान्जी बल-बुद्धि-गुण-निधान थे; यथा—***'तुम्ह बल बुद्धि निधान'***, 'अतुलितबलधामम्', 'सकलगुणनिधानम्', वैसा ही श्रीरामजीने अङ्गदको बना दिया। दोनों ही ***'रन बाँकुरे बीर अति बाँके।'*** (३६। ४) हैं। युद्धके समय वानर-सेनामें श्रीरामजीने केवल इन्हीं दोका नामनिर्देश किया है और सेनामें भी इन्हीं दोकी पुकार की है। यथा—***'हनूमान अंगद के मारे। रन महँ परे निसाचर भारे॥' 'अंगद अरु हनुमंत प्रबेसा। कीन्ह दुर्ग अस कह अवधेसा॥'*** (४४। ७), ***'कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता।'*** (४२। २) ***'त्राहि त्राहि अंगद हनुमाना॥'***

नोट—३ ***'लंका जाहु तात मम कामा'*** इति। (क) यहाँ ***'लंका जाहु'*** कहा। रावणके पास जाओ, ऐसा न कहा। भाव यह कि केवल रावणसे बात ही नहीं करनी है वरन् उसके पुत्रका वध भी करना है, गढ़के समाचार भी लेना है, इत्यादि दोहा ३८ देखो (ख)। श्रीरामचन्द्रजीने अङ्गद को ***'तात'*** कहकर सँभाल लिया अर्थात् सूचित किया कि तुम हमारे पुत्र हो, अतः हमारा कार्य तुम्हारा ही कार्य है, हमारी हानि-लाभ तुम्हारी हानि-लाभ है। इसलिये तुम लंका जाओ, अपना काम अपने ही हाथ ठीक बनता है। भाव कि तुम्हारा लङ्काको जाना दूतत्व नहीं है वरन् यह तुम्हारा ही कार्य है। दौत्यकर्मसे तुम्हारी मान-मर्यादाको हानि न पहुँचेगी। (पं०, मा० म०) (ग) पु० रा० कु० का मत है कि ***'मम कामा'*** का भाव यह है कि दुष्ट शत्रुके यहाँ न जाना चाहिये, पर मेरे कामके लिये तुम जाओ। यह निहोरा है।

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥ ७॥
काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥ ८॥

अर्थ—तुम्हें बहुत क्या समझाकर कहूँ! तुम तो परम चतुर हो, यह मैं जानता हूँ॥ ७॥ शत्रुसे वही बातचीत करना जिससे हमारा काम बने और उसका कल्याण (भी) हो॥ ८॥

नोट—१ ***'परम चतुर'*** का भाव कि दूतके वाक्पटुतादि सभी गुण तुममें हैं, बिना हमारे समझाये ही तुम जान सकते हो कि रावणसे क्या कहना होगा।

नोट—२ दूतमें क्या गुण होने चाहिये यह सु० र० भा० में इस प्रकार वर्णित है—**'मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः परचित्तो यथार्थस्य हि वाचकः॥ भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी। ब्राह्मणः परमर्मज्ञो दूतः**

स्यात्प्रतिभानवान्॥ साकारो निःस्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः। परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते॥' (६९—७२) अर्थात् बुद्धिमान्, बोलनेमें चतुर, पण्डित, दूसरेकी चित्तवृत्तिको जाननेवाला, धीर, जैसा कहा जाय वैसा ही कहनेवाला, ऐसेको दूत बनाना चाहिये। उसके सामने हथियार भी उठा हुआ हो तब भी वह अयथार्थ बात न कहेगा। वह सदैव अवध्य है, अतः वह सदा यथार्थ ही कहता है। भक्त, गुणवान्, पवित्र, कुशल, गम्भीर, व्यसनोंसे बचा हुआ, क्षमाशील, वेदवित् और ब्राह्मण, पराये मर्मको जाननेवाला और प्रतिभाशाली ही दूत होता है। साधिकार हो, निःस्पृह हो, वाक्पटु हो, नाना शास्त्रोंका गम्भीर ज्ञान रखता हो, परचित्तज्ञान रखता हो, ऐसा पुरुष राजदूत बनाया जाना चाहिये।

नोट—३ *'मैं जानत अहऊँ'* इति। परम चतुर कैसे जान? (क) अपनी सर्वज्ञतासे। (ख) तारापुत्र होनेसे। ताराकी मति कभी गलत न होती थी—कि० ११ (१-२) देखिये। (ग) समुद्र-तटपर इनके बुद्धिकी परीक्षा हो चुकी है जब सम्पातीसे सब डर गये थे, यथा—*'कह अंगद बिचारि मन माहीं। धन्य जटायू सम कोउ नाहीं॥'* वह उनकी बुद्धि काम भी कर गयी। लौटनेपर श्रीरामजीसे यह बात भी कही गयी होगी। (घ) बाली बुद्धि और बलका अभिमानी था और यह उसके समान है—कि० १० छंद (२) देखिये। (ङ) वचन कहनेके साथ ही प्रभुने उसे **'परम चतुर'** बना दिया। अतः *'परम चतुर'* कहकर तब *'जानत अहऊँ'* कहा। यह *'परम चतुरता श्रवन सुनि बिहँसे राम उदार।'* (३७) में चरितार्थ हुआ है। (च) गौड़जी कहते हैं कि गुरुजनोंकी ओरसे शाबाशी और प्रोत्साहन मिलता है तब छोटोंका हौसला बढ़ता है और बढ़ावा पाकर अयोग्य भी योग्य हो जाता है। यहाँ सरकार माधुर्य भावसे तो केवल गुरुजन हैं, स्वामी हैं, परन्तु ऐश्वर्यभावसे भगवान्‌का यह जान जाना ही कि देवदत्त परम चतुर है, देवदत्तको महामूढ़से परम चतुर बनाना है। भगवान्‌ने इस बहाने अंगदको परम चतुर बनाकर भेजा। तुलना कीजिये *'पठवा पुनि बल देइ बिसाला'।*

'काज हमार तासु हित होई'

नोट—४ पं० मा० म०, शीला—जब अन्तर्यामी प्रभुकी यह इच्छा थी कि उसका भला हो तब रावणने संधि क्यों न की! रामेच्छाको मिटानेवाला तो कोई है ही नहीं, सभी उनकी इच्छाके अनुकूल कार्य करते हैं। यथा—*'राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥'* (२। २९८। ७) *'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'* (१। १२८। १) *'राम रजाइ सीस सब ही के।'* (२। २५४। ८) *'सब कर हित रुख राउरि राखे।'* (अ० २५८) तब वैसा क्यों न हुआ? इससे साधारण अर्थ, कि 'हमें सीताजी मिलें और वह मारा न जाय' के अतिरिक्त इसमें गूढ़ अर्थ यह है कि प्रभुका कार्य सन्धि नहीं है वरन् युद्ध है, निशिचर-वध होकर विश्वका भार हरण हो, श्रीजानकीजी मिलें और रावणको परधामकी प्राप्ति हो, तुम्हारी जीत हो और मेरी सत्यप्रतिज्ञा रहे—**'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'** (३। ९), *'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मम दरसन अमोघ जग माहीं॥ अस कहि राम तिलक तेहि सारा।* इसीसे *'रिपु'* पद दिया, यदि सन्धि करनी होती तो 'भूप' पद देते।

पु० रा० कु०—काज 'सीता-प्राप्ति' और *'तासु हित'* विभूतिसहित रावणका सकुटुम्ब रक्षण है। यहाँ शङ्का होती है कि लङ्काका राज्य तो विभीषणको दे दिया और अंगदसे कहते हैं कि *'काज हमार तासु हित होई।'* ये दोनों बातें असंघटित होती हैं। बिना रावणवधके विभीषणका राज्य कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि रावण अपने जीतेजी श्रीसीताजीको न देगा। उसकी प्रतिज्ञाको श्रीरघुनाथजी जानते हैं।

नोट—५ इस गुप्त आशयमें रावणवध रामकरसे होना ही उसका हित है, क्योंकि यही उसका अभीष्ट है, यथा—*'होइहि भजन न तामस देहा।', 'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ'*—(अ० २३)

☞ यह प्रसंग बहुत अंशमें हनुमन्नाटकमें मिलता है। अङ्क ८ में अंगद-रावण-संवाद ही है। समानार्थी श्लोक क्रमशः प्रकरणमें योग्य स्थानमें मिलानेके लिये दिये गये हैं। वाल्मीकीयमें यह प्रसंग बहुत संक्षिप्तरूपमें है। वहाँ अङ्गदके द्वारा रामचन्द्रजीने संदेश भेजा जो अङ्गदने ज्यों-का-त्यों रावणसे कहा है। संदेशके अन्तमें

रामजी कहते हैं कि—'**ब्रवीमि त्वां हितं वाक्यं क्रियतामौर्ध्वदैहिकम्। सुदृष्टा क्रियतां लङ्का जीवितं ते मयि स्थितम्॥**' (यु० ४१। ७२)—अर्थात् हे निशाचर! हम तुम्हारे हितका वचन कहते हैं कि तुम अपने मरनेके बादके कल्याणकारी काम कर डालो। लङ्काके प्रति जो तुम्हारे कर्तव्य हों उनका अच्छी तरह पालन किये रहो, क्योंकि तुम्हारा जीवन हमारे ही अधीन है। और यहाँ प्रभु कहते हैं कि *'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥'* अतएव जो वाल्मीकिमें अङ्गदने सन्देशा कहा है वह *'हित बतकही'* हुआ। वह सन्देश यह है कि 'युद्ध करो और अपना पुरुषार्थ दिखाओ, मन्त्रि-पुत्र, बान्धव-वर्गसहित मैं तुमको मारकर त्रिलोकको निश्चिन्त करूँगा। देव-दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंके शत्रु, ऋषियोंके कण्टकरूप तुमको अब हम नाश करेंगे। तुम्हारे मारे जानेपर विभीषणको ऐश्वर्य प्राप्त होगा। यदि सत्कारपूर्वक और चरणोंपर गिरकर जानकीजीको नहीं दे दोगे।' यथा—'**निष्पत्य प्रतियुद्ध्यस्व नृशंस पुरुषो भव॥ हन्तास्मि त्वां सहामात्यं सपुत्रज्ञातिबान्धवम्। निरुद्विग्नास्त्रयो लोका भविष्यन्ति हते त्वयि॥ देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। शत्रुमद्योद्धरिष्यामि त्वामृषीणां च कण्टकम्॥ विभीषणस्य चैश्वर्यं भविष्यति हते त्वयि। न चेत् सत्कृत्य वैदेहीं प्रणिपत्य प्रदास्यसि॥**' (वाल्मी०६। ४१। ७८—८१) मानसके अङ्गदके *'दसन गहहु तृन कंठ कुठारी।'* इन वचनोंमें भी वही अभिप्राय भरा हुआ है।

प० प० प्र०—१ श्रीजानकीजीको समर्पण करके लङ्काका अचल राज्य करनेमें रावणका 'हित' था। श्रीरामजीका भजन करनेमें उसका परमहित था। पर *'होइहि भजन न तामस देहा।'* अत: इस मार्गसे परमहितकी प्राप्ति उसके लिये असम्भव थी। अत: रावणको युद्धके लिये प्रेरित करनेमें ही उसका हित हो सकता था। (और कारण ऊपर टिप्पणियोंमें आ चुके हैं)। अतएव पहिलेसे ही अङ्गदजीने रावणका अपमान करना प्रारम्भ कर दिया।

प० प० प्र० २ श्रीहनुमान्‌जी और अङ्गदजी दोनोंने ही दूतकार्यमें रावणसे सम्भाषण किया है। पर दोनोंके भाषणोंमें महदन्तर है। कारण कि हनुमान्‌जीका कार्य रावणको युद्धोन्मुख करना नहीं था और अङ्गदका यही मुख्य कार्य था।

सो०—प्रभु अग्या धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ।
सोइ गुनसागर ईस राम कृपा जा पर करहु॥१७(क)॥
स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदरु दियेउ।
अस बिचारि जुवराज तन पुलकित हरषित हियेउ॥१७(ख)॥

अर्थ—प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य कर श्रीचरणोंमें प्रणाम करके अंगद उठे। (और बोले) हे ईश रामचन्द्रजी! आप जिसपर कृपा करें वही गुणोंका समुद्र और समर्थ हो जाता है। नाथके सब कार्य स्वयंसिद्ध (अपने-आप ही किये हुए) हैं, यह तो स्वामीने तो मुझे आदर दिया है—ऐसा विचारकर युवराज अङ्गदका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वे हृदयमें हर्षित हुए॥ १७॥

नोट—१ *'प्रभु अग्या धरि सीस'''।'* इति। (क) प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, स्वामी हैं, आपकी आज्ञा अटल है और उसका शिरोधार्य करना सेवकका धर्म है, यथा—*'प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई।'* (५। ५९) *'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा। मातु पिता प्रभु गुर कै बानी। बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी॥'* (१। ७७) यह भाव *'अग्या धरि सीस'* का हुआ। (ख) *'चरन बंदि'* बड़ोंको प्रणाम करके बोलना शिष्टाचार है, यथा—*'जामवंत कह पद सिरु नाई॥'* (१७। २)

पु० रा० कु०—१ प्रभुने जो कहा था कि *'बालितनय बुधि बल गुन धामा', 'परम चतुर मैं जानत अहऊँ'* इसीका उत्तर अङ्गदजीने यह दिया कि *'सोइ गुनसागर ईस राम कृपा जापर करहु'।* (पु० रा० कु०) २—*'ईस'* का भाव कि प्रबल शत्रुसे बात करनेमें निर्भयता चाहिये। आपकी कृपासे मैं उस प्रबल शत्रुसे बातचीत करनेमें भी समर्थ रहूँगा।

नोट—२ ऊपर जो कहा था कि *'अंगद सन कह कृपानिधाना'* उस *'कृपानिधाना'* का भाव अङ्गदजीने अपने पक्षमें यहाँ दिखाया कि आपने मुझपर कृपा की। अतः मैं बल-बुद्धि-गुणधाम एवं परम चतुर भी हो गया। प्रभुने 'गुणधाम' कहा था। अङ्गदने कहा कि धाम तो छोटा होता है वह तो गुणोंका सागर हो जाता है।

नोट—३ मालिकसे साधारणतया खुशामदमें ऐसी बातें कही जा सकती हैं, परन्तु यहाँ तो वास्तविक बात यह है कि भगवान्‌की कृपासे *'मूक होइ बाचाल''''गहन'*। फिर परम चतुर होने वा गुणसागर बन जानेमें क्या सन्देह रह जाता है।—(गौड़जी) नोट—४ रामकृपामें सभी उत्कृष्ट गुणोंकी समता देना 'तृतीय तुल्ययोगिता अलंकार' है—(वीर)। नोट—५ प्रभुने जो कहा कि *'काज हमार तासु हित होई।''''''* उसीपर यह विचार अङ्गदका है। *'अस बिचारि'* से जनाया कि यह मानसिक विचार है। हर्ष और उत्साह वीररसके संचारी भाव हैं और भावी सफलताके सूचक हैं। नोट—६ यहाँ सात्त्विक भाव यह है कि पूर्व हनुमान्‌जीपर कृपा की थी तब उनका यश हुआ। अब मुझे आदर दे रहे हैं, इसलिये मुझे भी यश मिलेगा। (पं०)

वि० त्रि०—अङ्गदजीका कहना कि अपने दूत होने (रामदूत) का पद देकर सरकार मुझे आदर दे रहे हैं। नहीं तो सब कार्य स्वयं सिद्ध है। सीताजीकी प्राप्ति तो निश्चय होनी है, रावणका सिर भी सरकारके चरणोंमें निश्चय गिरेगा। चाहे शरणागत होनेसे वे सिर शरणप्रान्तकी पृथ्वीको स्पर्श करें, चाहे सरकारके बाणोंसे कटकर चरणप्रान्तकी भूमिपर गिरे। यदि शरण आयेगा तो भी सरकारको सीता-प्राप्ति होगी, यदि युद्ध करेगा तब भी होगी। यथा—**'सन्धौ वा विग्रहे वापि मयि दूते दशाननी।'**, **'अक्षता माक्षता नापि क्षितिपीठे लुठिष्यति'**। रामदूतपद पाने और कार्यसिद्धिकी प्राप्तिके निश्चयसे अङ्गद आनन्दसे पुलकायमान हो रहे हैं।

बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई॥ १॥
प्रभुप्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका॥ २॥

शब्दार्थ—**बाँकुरा**=बाँका, कुशल, चतुर, यह प्रयोग प्रान्तिक है और पद्यमें ही होता है। **बंका**=पराक्रमी, बलशाली, पुरुषार्थी।

अर्थ—चरणोंकी वन्दनाकर और हृदयमें प्रभुकी प्रभुताको धरकर अङ्गद सबको मस्तक नवाकर चले॥ १॥ रणमें बाँका बलशाली बालिपुत्र प्रभुका प्रताप हृदयमें रखकर स्वाभाविक निडर है॥ २॥

टिप्पणी—प्रभुप्रतापके स्मरणमात्रसे शत्रुका हृदय विदीर्ण होगा, यह समझकर सहज अशङ्क है। अथवा स्वाभाविक अशङ्क है, उसपर भी प्रभुप्रताप उरमें है।

नोट—१ प्रणाम करके कार्य प्रारम्भ करनेसे दुर्गम कार्य भी सुगम हो जाता है—दोहा ७४ देखिये। प्रभुका प्रताप स्मरण करनेसे निर्भयता आ जाती है। यथा *'समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥'* (३३। ८) विशेष ४३ (१) में देखिये। अतएव *'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई'* यह प्रस्थानके समयका मङ्गलाचरण हुआ। नोट—२ प्रताप, यथा—*'जाकी कीरति सुनि होत शत्रु उर ताप। जग डरात सब आपही कहिये ताहि प्रताप॥'*—(बै०)। नोट—३ बालिका बेटा है इसीलिये यह भी वैसा ही बाँका वीर है। बालिने रावणको हराया है, इस ओर भी इशारा—दोहा २ और २९ (८) देखिये। यह भी रावणको हरायेगा। शत्रुकी पटरानीने भी इनको यही विशेषण दिये हैं—*'रन बाँकुरे बीर अति बाँके।'* (३६। ४); 'अशङ्क' के तीन कारण दिये—बालिपुत्र है, रणबाँकुरा है और हृदयमें रामप्रताप है।

प० प० प्र०—*'उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई॥'*, *'प्रभु प्रताप बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल।'*, *'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल॥'* यह प्रभुप्रतापका सामर्थ्य अङ्गदजी अच्छी तरह निश्चयपूर्वक जानते हैं।

पुर पैठत रावन कर बेटा। खेलत रहा सो* होइ गै भेटा॥ ३॥
बातहिं बात करष बढ़ि आई। जुगल अतुल बल पुनि तरुनाई॥ ४॥

* 'रहा सो होइ'—(का०)। 'रहा होइ'—(भा० दा०)।

शब्दार्थ—पैठना=प्रवेश करना, घुसना। भेंट=मुलाकात। करष (कर्ष)=तनाजा, आमर्ष, ताव, लड़ाईका जोश। यथा—*'भलेहि नाथ सब कहहिं सहरषा। एकहिं एक बढ़ावइ करषा॥'* (२। १९१। २)

अर्थ—नगरमें प्रवेश करते ही रावणके बेटेसे भेंट हो गयी, जो वहाँ खेल रहा था॥ ३॥ बातों-ही-बातोंमें कर्ष बढ़ गया (दोनोंमें कलह बढ़नेसे जोश आ गया) क्योंकि दोनों ही अतुलित बली थे और उसपर भी दोनों तरुणावस्थाके (जवान) थे॥ ४॥

पु० रा० कु०, पं०—कर्षकी बात यहाँ नहीं लिखी गयी है पर अनुमानसे ऐसा जाना जाता है कि रावणका पुत्र कुश्ती, दाँव-पेंच आदि खेलता हुआ मिला। उसने अङ्गदसे पूछा तू कौन है? इनके बतानेपर कि मैं बालिपुत्र रामदूत हूँ, उसने कहा कि तेरे बापको रामने मार डाला और माँको तेरे देखते ही सुग्रीवने बिठा लिया, वही तू है? और, उन्हींका तू दूत बनकर आया है? तुझे धिक्कार है! यथा—*'अंगद तहीं बालि कर बालक। उपजेउ बंस अनल कुल घालक॥'* इत्यादि (रावण-वचन)। रावण और उसके पुत्रकी उक्ति एक ही है। अङ्गदने कहा कि मैं उस बालिका पुत्र हूँ जिसने तेरे बापको महीनों काँखमें दबाये रखा। जिन रामने तेरे बापकी बहिनकी नाक-कान काट उसे नकटी-बूची कर दिया, उनका दूत हूँ। तूने अपनी बूआकी गति देखी। लज्जा न आयी! तुझे धिक्कार है! यथा—*'सूपनखा कै गति तुम देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी॥'*—यह मन्दोदरीकी उक्ति है। उसने कहा कि वे ही राम हैं न, जिनकी स्त्रीको मेरा बाप हर लाया? अङ्गदने उत्तर दिया—ये वही राम हैं जिनके पास तेरे बापकी बहिन कामातुर हो उन्हें अपना खसम बनाने गयी थी और जिनके रहते तेरा बाप पर्णकुटीके पास जानेकी साहस न कर सका। कुत्तेकी तरह चोरीसे यती बनकर गया था।—यह रावणपुत्र प्रहस्त है।

पु० रा० कु०—रावण और उसके पुत्रकी उक्ति एक है। पुनः, मन्दोदरी और तारा बहिनें हैं। अतः रावणपुत्र और अङ्गदकी उक्ति एक-सी दिखायी—[☞ मन्दोदरी मयदानवकी और तारा सुषेण वानरकी कन्या है। इस प्रकार इस जन्ममें तो वे बहिनें नहीं हैं। हाँ, पञ्चकन्याएँ मानकर बहिनें कही गयी हों, फिर एक माता या एक पिताकी वे नहीं हैं।]

नोट—*'अतुल बल पुनि तरुनाई'* का भाव कि कर्ष बढ़नेपर लड़ जानेके लिये दोनोंका अतुलबली होना ही पर्याप्त था और ये दोनों तो जवान भी हैं, जो अवस्था स्वयं ही अनर्थकी जड़ है, तब भिड़ जानेमें सन्देह ही क्या हो सकता है? यथा—'**यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥**' (हितोपदेश कथारम्भ ११) अर्थात् यौवन, धन-संपत्ति, प्रभुता और अविवेकता—ये एक-एक भी अनर्थके लिये पर्याप्त हैं और जहाँपर ये चारों हों वहाँपर अनर्थका क्या कहना?

तेहि अंगद कहुँ लात उठाई। गहि पद पटकेउ भूमि भँवाई॥५॥
निसिचर निकर देखि भट भारी। जहँ तहँ चले न सकहिं पुकारी॥६॥
एक एक सन मरमु न कहहीं। समुझि तासु बध चुप करि रहहीं॥७॥

शब्दार्श—भँवाना (सं० भ्रमणसे। हिंदी भँवाना)=घुमाना, फिराना, चक्कर देना। यह प्रयोग पद्यमें ही होता है।

अर्थ—उसने अङ्गदको लात उठायी अङ्गदने वही पैर पकड़कर उसे घुमाकर पृथ्वीपर पटककर मार डाला॥ ५॥ निशिचरसमूह (जो साथ थे) भारी भटको देखकर जहाँ-तहाँ चल दिये, डरके कारण पुकार भी नहीं कर सकते॥ ६॥ एक-दूसरेसे मर्म नहीं कहते, उसका वध (मनमें) समझकर चुप साधकर सब रह गये॥ ७॥

बं० पा०—प्रहस्तने प्रथम लात उठायी क्योंकि वह राजपुत्र और जवान होनेके अतिरिक्त अपने नगरमें है।

पु० रा० कु०—*'गहि पद पटकेउ······'* इति। पूर्व कहा कि *'जुगल अतुल बल'* अर्थात् दोनोंका बल समान था तब अङ्गदकी विशेषता कैसे हुई? उत्तर—श्रीरामप्रतापसे हुई; अन्यथा प्रताप कैसे जान पड़ता? जिसकी ओर भगवान्‌का बल है उसकी ही जय होती है। यथा—'**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।**

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥' (गीता १८। ७८) अर्थात् जहाँ (जिस पक्षमें) योगेश्वर श्रीकृष्णजी और जहाँ धनुर्धर अर्जुनजी हों वहींपर श्री, विजय और ऐश्वर्य एवं अचल नीति भी है, यह मेरा निश्चय मत है। (यह संजयने धृतराष्ट्रसे गीताके अन्तमें कहा है।)

नोट—१ ***'जहँ तहँ चले न सकहिं पुकारी'*** इति। (क) यहाँ ***'चले'*** पद देकर जनाया कि उधरकी ओर पीठ देकर चुपचाप खिसके, भागे नहीं कि रावणपुत्रका साथी जानकर पीछा न करें। ऐसे चले मानो उनके सामने कोई बात हुई ही नहीं। (ख)—पुकार न सके, यह भी उनका अत्यन्त भय सूचित करता है। किसी दूसरेको अथवा अपनेसे बलीको पुकारते नहीं और न दूसरेसे कुछ कहते हैं। कारण कि वे डरते हैं कि हमें भी न मार डाले, दूसरे, औरोंको बतानेसे लोग हमारा नाम धरेंगे कि तुम्हारे सबके रहते यह कैसे हुआ? तीसरे यदि कहेंगे तो रावणको खबर हो जायगी कि ये लोग साथ थे, पर ये सब झगड़ा देख भाग आये, उसको बचाया नहीं, जो सुनकर रावण जीता न छोड़ेगा। यहाँ शङ्का संचारी भाव है। नोट—२ कवि भयका कारण स्वयं आगे देते हैं।

भएउ कोलाहल नगर मझारी। आवा कपि लंका जेहिं जारी॥ ८॥
अब धौं काह* करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा॥ ९॥

अर्थ—(अङ्गदके भयसे राक्षसोंको भागते देख) नगरमें शोर और खलबली मच गयी कि वह वानर फिर आया है जिसने लङ्का जलायी थी॥ ८॥ अत्यन्त भयभीत होकर सब विचारते हैं कि न जाने अब, विधाता (वा० हे विधाता वह) क्या करेगा॥ ९॥

नोट—श्रीहनुमान्‌जी लङ्का जला गये उससे सब सभीत थे ही—***'उहाँ निशाचर रहहिं ससंका'*** अब वही फिर आया यह समझकर ***'अति सभीत'*** हुए। पुनः प्रहस्तवधसे सभीत और 'आगे न जाने क्या करेगा' यह सोचकर **'अति सभीत'** हुए। ***'भयो कोलाहल'***, यथा—***'आयो आयो आयो सोई बानर बहोरि भयो सोर चहुँ ओर लङ्का आये जुवराजके। एक काढ़ैं सौंज एक धौंज करैं कहा ह्वै है, 'पोच भई महा' सोच सुभट समाज के॥ गाज्यो कपिराज रघुराजकी सपथ करि मूँदे कान जातुधान मानों गाजे गाज के। सहमि सुखात बातजात की सुरति करि, लवा ज्यों लुकात तुलसी झपेटे बाज के॥'*** (क० ६। ९) **'यो लङ्का समदीदहत् स च पुनर्ह्येषोऽधुना वानर इत्येवं पुरवासिराक्षसगणाः कोलाहलं चक्रिरे॥'** इति नाटके॥

बिनु पूँछे मगु देहिं दिखाई। जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई॥ १०॥

अर्थ—वे बिना पूछे ही (रावणकी सभाका) मार्ग दिखा देते हैं, जिसकी ओर अङ्गदजी देखने लगते हैं वही सूख जाता है॥ १०॥

नोट—१(क) बिना पूछे बताते ही नहीं, वरन् रास्ता भी दिखा देते हैं जिसमें वह सीधा रावणके पास चला जाय, हम लोगोंको कुछ हानि न पहुँचावे। (ख) बिना पूछे बतानेसे कृतज्ञता मानकर प्रसन्न होकर वे बतानेवालेकी ओर देखते हैं, पर वह यह समझकर सहम जाता है कि कहीं हमारे प्राण लेनेके लिये न देखते हों। (पु० रा० कु०) क्योंकि पूर्व अक्षवध, लङ्कादहन आदि, और इस समय प्रहस्तवध देख चुके हैं तब उनकी प्रसन्नता तो स्वप्नमें भी कैसे समझ सकते? इससे दिखाया कि भय समा गया है। ☞ मिलान कीजिये—***'जेहि सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानइ जनु आयु खुटानी॥'*** (१। २६९) वहाँ परशुरामजीकी करनी पूर्व देखे-सुने होनेसे ऐसा भय राजाओंमें छाया हुआ था।

वीर—यहाँ राक्षसोंके मनमें भय स्थायी भाव है। अङ्गद आलम्बन विभाव हैं, राजपुत्रका वध उद्दीपन विभाव है, बिना पूछे मार्ग दिखाना और निहारनेपर सूख जाना अनुभाव है। वह दैन्य, आवेग, चिन्ता, शङ्का आदि सञ्चारी भावोंसे वृद्धिको प्राप्त होकर 'भयानकरस' हुआ है।

इस वर्णनसे अङ्गदका तेज दिखाया। तेज देखकर सब काँप जाते हैं, यथा—***'तेजनिधान लषन पुनि***

* काह—को० रा०। कहा—भा० दा०।

तैसे॥ कंपहिं भूप विलोकत जाके। जिमि गज हरि किसोर के ताके॥' (१। २९२) और अङ्गदको यहाँ सिंह कहा ही है—'*सिंह ठवनि*…'।

दो०—गएउ सभा दरबार तब सुमिरि रामपदकंज।
सिंहठवनि इत उत चितव* धीर बीर बलपुंज॥ १८॥

शब्दार्थ=दरबार=द्वार। ठवनि=अङ्गदकी स्थिति या सञ्चालनका ढब; खड़े होने या चलनेकी शान। यथा—'*बृषभकंध केहरि ठवनि*…' (१। २४३) विशेष १। २४३ देखिये।

अर्थ—तब अङ्गद श्रीरामचरणकमलोंका स्मरण करके रावणके सभा-भवनके द्वारपर गये। धीर, वीर और बलराशि अङ्गदजी खड़े होकर इधर-उधर सिंहके ढंगपर देखने लगे॥ १८॥

पु० रा० कु०—रावणपुत्रका वध देख सब शङ्कित हो गये, इसीसे बीचमें कोई रोकनेका साहस न कर सका—'*बिनु पूँछे मगु देहिं दिखाई। जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई॥*' अतएव जहाँ रावणकी सभा होती थी उसके द्वारपर पहुँच गये। '*दरबार*' का अर्थ यहाँ है—द्वार। क्योंकि सभामें जाना तो रावणके बुलानेपर आगे कहा गया है, यथा—'*सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा॥*' (१९। २), एवं '*गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालितनय अति बल बाँकुरा॥*' (१९। ७)

द्वार अर्थके उदाहरण, यथा—१ '*एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार।*' (अ० २३) यहाँ द्वारपर भीड़ थी, यथा—'*द्वार भीर सेवक सचिव कहहिं उदित रबि देखि।*' (अ० ३७), '*करि मज्जन सरजू जल गए भूप दरबार*' (१। २०६), '*मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गएउ लेइ बिप्र समाजा॥*' यहाँ भी द्वारपर राजा मुनिसे आकर मिले, '*पुर आठ आठ दरबार बिराजे युत आठ आठ सेना बल साजे। रहैं चारि चारि घटिका परिमाने घर जाहिं और जब आवत जाने॥*' (रामचन्द्रिका)

☞ '*सिंहठवनि*'—सिंह थोड़ा चलता है फिर अकड़कर खड़ा होकर इधर-उधर दृष्टि करके फिर चलता है। उसकी चितवन निर्भयताकी होती है। यही निर्भयता जनानेके लिये '*सिंहठवनि*' पद दिया, यथा—'*ठाढ़े भए उठि सहज सुभाए। ठवनि जुवा मृगराजु लजाए॥*' (१। २५४। ८)

बं० पा०—१ '*इत उत*' देखनेका भाव कि कोई मुखिया मिले तो कहला भेजें। (रा० प्र०—सिंह-ठवनिके सम्बन्धसे '**इत उत चितव**' कहा; सिंहावलोकन ख्यात ही है।) 'धीर' का भाव कि राजकुमारके वध करनेमें हृदयमें कम्प न हुआ। २—'वीर' से संग्रामका उत्साही जनाया कि कोई भी बोले तो उसे भी मार ही डालूँ। '**बलपुंज**' कहा क्योंकि बली राजकुमारका पैर पकड़कर उसे दे पटका।

अङ्गद-दौत्य

मा० हं०—इस वर्णनमें हनुमन्नाटककी कल्पनाएँ कुछ फेर-फारके साथ ली हुई दिखायी देती हैं। परंतु उसका-उपयोग प्रसंग-वर्णनको आकर्षक बनानेमें जितना होना चाहिये था, उतना हुआ-सा नहीं देख पड़ता। अङ्गदजीकी मर्मभेदक वक्रोक्ति और रावणकी बेढङ्गी गर्वोक्ति नमूनेदार है। इस वर्णनमें अङ्गद और रावण इनमें परस्पर गुणवैधर्म्य बड़ी ही खूबीसे दिखलाया गया है। अङ्गदजीकी तेजस्विता, आत्मविश्वास, स्वामिभक्ति (रामभक्ति) इत्यादि गुण उत्तरोत्तर कैसे वृद्धिगत होते गये यह देखने योग्य है। रावण-सभामें किसीने भी पाँव उठाया तो सीताजीको हार जानेका जो प्रण अङ्गदने किया हुआ दर्शाया है वह उसके इन सभी गुणोंका अपरिमित उत्कर्ष ही समझना चाहिये।

'परंतु वैसा प्रण ठानना विषकी परीक्षा ही है इस समझसे अङ्गदके पाँवके समीप रावण आते-से ही स्वामीजीने सब प्रसंग एकदम औंधा कर दिया। यह प्रसंग उलटानेका प्रकार इतना बेहद खूबीदार हुआ है कि वह कविकी कल्पकता, समय-सूचकता और विनोदी स्वभावका परिचय कराये बिना रह ही नहीं सकता।

'अङ्गददौत्यका गर्भितार्थ यह दिखता है कि रामजीका कृपापात्र एक छोटा-सा बंदरबच्चा भी रावण-सरीखेकी ताकत और होश गूँगा कर देनेका सामर्थ्य रख सकता है। हमारी दृष्टिसे '*ता कहँ प्रभु कछु*

---

* चितइ—(छ०)।

अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। प्रभु प्रताप बड़वानलहिं जारि सकइ खलु तूल॥' जो हनुमान्‌जीद्वारा कहा गया है उसीका यह अङ्गद-दौत्य-प्रकरण केवल एक आदर्श ही हुआ है।'

पं० रा० चं० शुक्ल—अङ्गद और रावणका संवाद राजसभाके गौरव और सभ्यताके विरुद्ध है। पर इसका मतलब यह नहीं कि गोस्वामीजी राजन्यवर्गकी शिष्टताका चित्रण नहीं कर सकते थे। राजसमाजके सभ्य भाषणका अत्यन्त सुन्दर नमूना उन्होंने चित्रकूटमें एकत्र सभाके बीच दिखाया है। पर राक्षसोंके बीच शिष्टता, सभ्यता आदिका उत्कर्ष वे दिखाना नहीं चाहते थे।

गौड़जी—गोस्वामीजीने भिन्न-भिन्न सभाओंके विविध चित्र तत्तत्परिस्थितिके अनुकूल खींचे हैं। देवताओंकी सभाका वर्णन रावणके अत्याचारसे पीड़ित हो विचार करनेके प्रसंगमें है। स्वयंवर तो एक बड़ी राजसभा है। फिर चित्रकूटकी राजसभा श्रीरघुनाथजीकी ही है। यहाँ रावणकी सभा है। श्रीहनुमान्‌जी भी इस सभामें पधार चुके हैं। निषादराज भी अपनी टोलीका दृश्य दिखा चुके हैं। गोस्वामीजी यहाँ राक्षसी सभाका नमूना दे रहे हैं। वर्तमान जगत्‌में भी भिन्न-भिन्न देशोंकी सभाओंकी भिन्न-भिन्न दशा है। लंदनकी पार्लियामेंटमें घूँसेबाजी और गाली-गलौजतक होती है। अमेरिकाकी कांग्रेसमें लोग खर्राटे लेते रहते हैं। यदि इन सभाओंका कच्चा चिट्ठा कोई वर्णन करे तो उनकी असभ्यताकी कथा कहनेसे उसपर कोई जिम्मेदारी नहीं आती। रावणमें विनय, शील और सभ्यताका तो अभाव ही था। यदि ऐसा न होता तो आनेके साथ ही तेजवान् तथा सभासदोंसे अभ्युत्थानमानप्राप्त अङ्गदसे *'कवन तैं बंदर'* न कहता। इस तिरस्कारपर अङ्गदको भी उसी ढंगपर उत्तर देना आवश्यक हुआ, क्योंकि—*'मम जनकहिं तोहिं रही मिताई। तव हित कारन आयेउँ भाई॥'* बापसे हारा था, अङ्गद उसके साथ खेला था, भाई करके सम्बोधन भी किया। इसपर भी रावणका ढङ्ग नहीं बदला, क्योंकि देवताओंपर विजय पानेसे उसका मिजाज बेहद बहँका हुआ था। यह कहा जा सकता है कि हनुमान्‌जीने तो विनती की, हाथ जोड़े, स्वामी, प्रभु आदि कहा और अङ्गदजीने ठीक उलटा व्यवहार किया, इसमें अङ्गदकी उद्धतता और उजड्डपन था। इसका उत्तर यह है कि हनुमान्‌जी रावणके पास भेजे नहीं गये थे। अपनी ओरसे पहुँचे थे, स्वयं मन्त्री-पदभोगी थे, सरकारके सेवक थे अवश्य, परंतु रावणके दरबारमें गिरफ्तार होकर अभियुक्तकी हैसियतसे गये थे, जब उन्होंने अपनेको रामदूत जाहिर किया तब भी अभियुक्त ही थे। अपनी ओरसे दौत्य करनेमें विनय और शिष्टता बरतना कर्तव्य था। यहाँ अङ्गदजी उसीके पास भेजे हुए दूत हैं, कोई अभियुक्त नहीं हैं, रावणसे इनका अपना भी वास्ता है और बराबरीका वास्ता है, रावणके अशिष्ट व्यवहारका वैसा ही उत्तर इन्होंने दिया। इन्होंने अङ्गदके विशिष्ट शीलके उपयुक्त ही काम किया। अङ्गदजी महात्मागाँधी या ईसा या राम तो न थे जो ब्राह्मण रावणके दुर्वचनपर उससे **'मारतहूँ पा परिय तिहारे'** कहते।

तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहि जनावा॥ १॥
सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा॥ २॥
आयसु पाइ दूत बहु धाए। कपि कुंजरहि बोलि लै आए॥ ३॥

अर्थ—तुरन्त एक निशिचर भेजकर (अपने आगमनका) समाचार रावणपर प्रकट किया॥ १॥ समाचार सुनते ही दशशीश (दूतके निरादरार्थ) बहुत हँसकर बोला कि उसे बुला लाओ, देखें कहाँका बंदर है?॥ २॥ आज्ञा पाकर बहुतसे दूत दौड़े और वानरश्रेष्ठको बुला लाये॥ ३॥

☞ हनुमन्नाटकमें प्रहस्तका जाकर खबर देना और उसीका अङ्गदको जाकर साथ ले आना कहा है, यथा—**'ततः प्रविशत्यञ्जलिबद्धः प्रहस्तः। देव रामस्य दूतः शाखामृगो द्वारे॥ प्रवेशय। ततः प्रविशति प्रहस्तेन सहाङ्गदः॥'** (८। ४) अर्थात् तदनन्तर प्रहस्त हाथ जोड़े हुए प्रवेश करके रावणसे कहता है—हे देव! रामका दूत एक वानर द्वारपर स्थित है। रावणने कहा *'प्रवेशय'* अर्थात् ले आओ। तब प्रहस्त अङ्गदसहित दरबारमें आये। गोस्वामीजीने *'दूत बहु धाए'* कहकर अङ्गदको अधिक सम्मान दिया है। रा० प्र०, बं० पा०—'एक' का अर्थ 'मुख्य' है। *'दूत बहु धाए'* आज्ञापालनमें फुर्ती और आज्ञाकी उत्कर्षताका बोधक है (पुनः 'एक' से जनाया कि द्वारपर कई द्वारपाल निशाचर थे उनमेंसे 'एक' भेजा गया)।

अंगद दीख दसानन बैसा*। सहित प्रान कज्जल गिरि जैसा॥ ४॥
भुजा बिटप सिर सृंग समाना। रोमावली लता जनु नाना॥ ५॥
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरि कंदरा खोह अनुमाना॥ ६॥

शब्दार्थ—बैसना (सं० वेशन)=बैठना, यथा—*'जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥'* (७५। १) यह मागधी भाषाका शब्द है। (बं० पा०) कंदरा=गुफा, गुहा। खोह=पहाड़के बीचका गहरा गड्ढा; दो पहाड़ोंके बीचमेंकी तंग जगह। अनुमाना=अनुमान वा अंदाजा करना, भावना करना, विचारना, समझना।

अर्थ—अङ्गदने दशाननको ऐसे बैठे हुए देखा जैसे कोई काजलका पर्वत प्राणोंसहित बैठा हो॥ ४॥ भुजाएँ, वृक्ष और सिर गिरि-शिखरके समान हैं। शरीरकी रोमावली मानो बहुत-सी लताएँ हैं॥ ५॥ मुख, नाक, नेत्र और कान पर्वतकी कन्दराएँ और खोह-से लगते थे॥ ६॥

नोट—१ यहाँ रावण और गिरिका साङ्गरूपक बाँधा गया है। इसीसे अङ्गदको सिंह और गज दोनों कहा है। (रा० प्र०) काजल बहुत काला, वैसे ही रावण बहुत काला। पर्वतपर वृक्ष, शिखर, लताएँ और खोह होते हैं, यहाँ भुजाएँ, सिर, रोएँ, मुख, नाक और नेत्र तथा कान हैं। मुख और नासिका बहुत गहरे और भीतर होते हैं, इससे वे कन्दराएँ हैं,नेत्र और कान बाहरके गढ़े हैं।

पु० रा० कु०—१ प्राणसहित कहकर चेतन जनाया नहीं तो जड़ समझा जाता। यहाँ व्यतिरेक अलंकार है—'**व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः।**' '**बैसा**' भोजपुरी बोली है। पु० रा० कु०—२ काजलका पहाड़ एक लात लगते ही छिन्न-भिन्न हो जाता है, वैसे ही यह एक लातसे होगा।

खर्रा—रावण उठा नहीं इससे जड़की उपमा दी और हाथ न उठाया इससे काष्ठकी उपमा दी, सिर न नवाया इसलिये शृङ्गकी उपमा दी। शिखर सबसे ऊपर होते हैं, शरीर पर्वत है उसके ऊपर सिर शिखर हैं।

गएउ सभा मन नेकु न मुरा। बालितनय अति बल बाँकुरा॥ ७॥

शब्दार्थ—नेकु=जरा भी, किञ्चित्। यह व्रजभाषाका शब्द है—(बं० पा०)। मुरना=मुड़ना, फिरना, पलटना, दबाव वा प्रताप देख लचं वा डर जाना।

अर्थ—अत्यन्त बाँका बली बालिपुत्र सभामें गया, उसका मन(रावणका प्रताप देख) जरा भी न शङ्कित हुआ॥ ७॥

नोट—१ पर्वताकार रावण और उसकी सभा देखकर मनमें जरा भी डर न हुआ। यह कहकर उसका कारण बताते हैं कि वह वालीका पुत्र है जो *'बाली रिपुबल सहै न पारा'*, और जिस बालीसे यह रावण भी पराजित हो चुका था। हारे हुएसे क्या डरना? फिर वह स्वयं बाँका बली है। सभाका वर्णन सुन्दरकाण्डमें कर ही चुके हैं। यथा—*'दसमुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥'* (२०। ६) *'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥'* (७)

वहाँ हनुमान्‌जीके विषयमें कहा था कि—*'देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका॥'* वही सब भाव यहाँ *'मन नेकु न मुरा'* से सूचित करते हैं। सुं० २० (८) देखिये।

नोट—२ मन शङ्कित होनेका कारण उपस्थित था कि इन्द्र, वरुणादि सब सेवामें हाजिरी दे रहे हैं। एक ड्योढ़ीदारतक ब्रह्मादिकको डाँटता-फटकारता है। ऐसा रावणका प्रताप देख कौन न डर जाय? पर ये न डरे। प्रताप, यथा—'**ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः॥ स्तोत्रं संहर नारद स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो।**' (हनुमन्नाटक ८। ४५) अर्थात् (प्रतीहार सबको इस तरह डाँट रहा है—) हे ब्रह्मन्! यह पठनका समय नहीं है, चुप होकर बाहर बैठो। रे जडमति बृहस्पति! थोड़ा बोलो, यह इन्द्रकी सभा नहीं है। हे नारद! स्तोत्रोंको रहने दो। हे तुम्बुरु! कथाओंकी वार्तालापोंसे बस अब उनका कुछ प्रयोजन नहीं है। श्रीकेशवदासजीने हनुमन्नाटकके इस भावको इस प्रकार

* वैसा, जैसा—(क०), वैसे, जैसे—(भा० दा०)।

लिखा है—*'पढ़ौ बिरंचि मौन बेद जीव सोर छंडिरे। कुबेर बेर कै कही न यज्ञ भीर मंडिरे॥ दिनेश जाइ दूरि बैठि नारदादि संगही। न बोलु चंद मंद बुद्धि इन्द्र की सभा नहीं॥'*

प० प० प्र०—चौपाईमें मात्रा कम करके जनाया कि यह बड़े आश्चर्यकी बात हुई। सभी देखनेवाले आश्चर्यचकित हो गये। इसका परिणाम अगली अर्धालीमें कहा है।

उठे* सभासद कपि कहुँ देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेषी॥ ८॥

शब्दार्थ—**सभासद**=जो किसी सभामें सम्मिलित हो और उपस्थित विषयोंपर सम्मति देनेका अधिकार रखता हो। सदस्य।

अर्थ—सभासद कपिको देख उठकर खड़े हो गये। यह देखकर रावणके हृदयमें बड़ा क्रोध हुआ॥ ८॥

नोट—१ सभासदोंके उठनेका कारण अङ्गदका तेज है। तेजस्वीको देख बरबस दूसरोंमें उसके सम्मानका भाव आ जाता है। यथा—*'राजन राम अतुलबल जैसे। तेजनिधान लषन पुनि तैसे॥'* (१। २९३। ३), *'उठे सकल जब रघुपति आए। बिश्वामित्र निकट बैठाए॥'* (१। २१४। ६)

इसी प्रकार परीक्षित् महाराजकी मुनिसभामें जब शुकदेवजी आये तब यद्यपि वे १६ वर्षके बालक ही थे, सब मुनिसमाज देखकर आसनसे उठ खड़े हुए थे। यथा—**'प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यस्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम्॥'** (भा० १। १९। २८) अर्थात् यद्यपि उनका तेज छिपा हुआ था तथापि उनके लक्षणोंको जाननेवाले समस्त मुनिजन उन्हें पहचानकर अपने आसनोंसे उठ खड़े हुए।

वि० त्रि०—*'उठे सभासद'''''देखी'* इति। यहाँपर कवि अङ्गदजीका व्यक्तित्व कहते हैं। रावणका इतना भयानक व्यक्तित्व है (यथा—*'सहित प्राण कज्जल गिरि जैसा'*), पर उसका कोई प्रभाव अङ्गदजीपर नहीं पड़ा, पर अङ्गदजीके व्यक्तित्वका ऐसा प्रभाव सभासदोंपर पड़ा कि वे बैठे नहीं रह सके। उन सबोंने विचारपूर्वक अङ्गदजीको अभ्युत्थान नहीं दिया। अङ्गदजीके देखनेसे उनके हृदयमें ऐसा धक्का लगा कि उठ खड़े हुए। सिंहके चले जानेसे मत्त गजयुत्थ विचारपूर्वक नहीं खड़ा होता। सिंहके देखनेमात्रसे उनके हृदयपर ऐसा धक्का पहुँचता है कि वे बैठे नहीं रह सकते।

नोट—२ रावण यह समझकर क्रोधित हुआ कि दरबारमें मेरे बैठे हुए भी इन लोगोंने उसे अभ्युत्थान दिया। इस सम्मानसे उसके तेज और मानका अपमान हुआ। अपने सामने दूसरेका उत्कर्ष वह न सह सकता था। यहाँ असूया संचारीभाव है। रा० प्र० का मत है कि वह क्रोधित हुआ कि बंदरसे ऐसे डर गये, आगे क्या करेंगे।

दो०—जथा मत्त गज जूथ महुँ पंचानन चलि जाइ।
रामप्रताप सुमिरि† मन बैठ सभा सिरु नाइ॥ १९॥

शब्दार्थ—**पंचानन**=सिंह। सिंहको पञ्चानन कहनेका कारण लोग दो प्रकारसे बतलाते हैं। कुछ लोग तो पञ्च शब्दका अर्थ 'विस्तृत' करके पञ्चाननका अर्थ 'चौड़े मुँहवाला' करते हैं। कुछ लोग चारों पंजोंको जोड़कर पाँच मुँह गिना देते हैं और कहते हैं कि वह चारों पंजोंसे मुखके समान चीड़-फाड़ करता है, इससे वे पंजे भी मुखके समान हैं। मत्त गज वह हाथी जिसके मस्तकसे मद बहता हो। मतवाला हाथी।

अर्थ—जैसे मतवाले हाथियोंके झुंडमें सिंह निर्भय चला जाता है वैसे ही अङ्गदजी हृदयमें श्रीरामप्रतापका स्मरण करके सभामें सिर नवाकर (प्रणाम करके) बैठ गये॥ १९॥

पु० रा० कु०—१९ (३) में कहा कि *'कपि कुंजरहि बोलि लै आये'* और यहाँ लिखते हैं कि *'पंचानन चलि जाइ',* यह पूर्वापर-विरुद्ध देख पड़ता है। इसका समाधान यह है कि—

(क) उपमामें वस्तुसे प्रयोजन नहीं है, गुणसे प्रयोजन है। वहाँ वानरोंमें कुञ्जर-सदृश अर्थात् श्रेष्ठ कहा और यहाँ जब राक्षसोंको *'मत्त गज जूथ'* की उपमा दी; तब उनके बीचमें जाते हुए इनको पञ्चाननकी

* उठेउ—(भा० दा०), उठे—(का०)। † सँभारि उर—पाठान्तर।

उपमा दी। जैसे मत्तगजसमूहमें सिंह निर्भय रहता है वैसे ही राक्षससमूहमें ये निर्भय चले गये—यह बात दिखानेके लिये यहाँ इनको सिंह कहा। यथा—*'ठाढ़ भए उठि सहज सुभाए। ठवनि जुवा मृगराज लजाए॥'* (१। २५४। ८); *'सहजहि चले सकल जगस्वामी। मत्त मंजु बर कुंजरगामी॥'* (१। २५५। ५)

अथवा, (ख) रावणको इसी स्थानपर वन, कन्दरा, खोह इत्यादि कहकर वर्णन करना था, इससे इनको कुञ्जर और पञ्चानन दोनों कहा। वनके अनुकूल कुञ्जर कहा और खोहके अनुकूल पञ्चानन कहा। तात्पर्य कि जैसे कुञ्जर और सिंह वनमें निःशङ्क विहार करते हैं वैसे ही अङ्गद रावणके समीप निःशङ्क हैं।

अथवा, (ग)—विचार करनेसे कुछ विरोध नहीं है। जहाँ जैसा प्रयोजन होता है वहाँ वैसा कहते हैं। जैसे प्रथम अङ्गदको सिंह कहा, यथा—*'सिंह ठवनि इत उत चितव धीर बीर बलपुंज।'* (१८) फिर 'कुञ्जर' कहा, यथा—*'कपि कुंजरहि बोलि लै आए'* और अन्तमें पुनः सिंह कहा, ऐसे ही श्रीरामलक्ष्मणजीके सम्बन्धमें जनकपुरके दूतोंके वचन हैं, यथा—

आदिमें—*'पूछन जोग न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंह तिहुँ पुर उजियारे॥'*

मध्यमें—*'तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिय महामहिपाल।*
भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकजनाल॥'

अन्तमें—*'कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरिकिसोर के ताके॥'*

नोट—१(क) सिंह मत्तगजगणमें निर्भय और उत्साहपूर्वक जाता है, यथा—*'मनहु मत्त गजगन निरखि सिंहकिसोरहि चोप।'* (१। २६७) सिंह निडर है; क्योंकि वह जानता है कि मैं अकेला सबको विदीर्ण कर डालनेको समर्थ हूँ। अतः निर्भीकतामें अङ्गदजीको पञ्चाननकी उपमा दी गयी। निशिचर मोटे, काले, ऊँचे और (मद्यपानसे) मतवाले हैं, एवं इनका मान-मर्दन बालिपुत्रद्वारा होना है, अतएव राक्षसोंको मत्तगजकी उपमा दी गयी। (बं० पा०)

नोट—२ *'रामप्रताप'''* इति। यहँ रघुवीरका ध्यान न कहकर प्रताप-स्मरण करना कहा। इसका भाव यह है कि सभाभरपर तेजका ऐसा प्रभाव देख वे रामप्रतापका स्मरण करने लगे अर्थात् आपके प्रतापसे ही यह बात हुई। (पं०)

नोट—३ *'बैठ सभा सिरु नाइ'*। *'सिरु नाइ'* पद मानसमें अनेक स्थलोंमें आया है और उसका—मस्तक नवाकर या 'प्रणाम करके', यही अर्थ प्रायः सर्वत्र है। यथा—*'तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि'''।'* (७। १७) *'भ्राताचरन सीस तेहि नावा।''''पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन॥'* (सुं० ३८। २-३), *माथ नाइ पूछत अस भएऊ।'* (कि०) *'सकल द्विजन्ह मिलि नायेउ माथा।'* (७। ५। ५) *'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥'* (कि० २३। ८) *'पाछे पवनतनय सिरु नावा।'* (कि० २३। ९), *'कहि जय जीव बैठ सिरु नाई॥'* (अ० ३८। ६) *'सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई॥'* (अ० १८८। ७)

वैसे ही यहाँ सभाको प्रणाम करके ही अङ्गदका बैठना अभिप्रेत है। सभाको प्रणाम क्यों किया? इसके तीन कारण यहाँ स्पष्ट हैं। एक तो रावण दिग्विजयी राजा है और राजसिंहासनासीन है, दूसरे पुलस्त्य ऋषिका नाती है, तीसरे सभासदोंने अङ्गदका अभ्युत्थानद्वारा सत्कार भी किया है, अतएव नीति और शिष्टाचार दोनों अङ्गदके प्रणामके पक्षमें हैं। राजाके भावसे ही हनुमान्‌जीने रावणको 'प्रभु', 'स्वामी' इत्यादि कहा है, यथा—*'खायउँ फल प्रभु लागी भूखा', 'सबके देह परम प्रिय स्वामी।'*—(सुं० २२) बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'सभाको ईश्वररूप जानकर प्रणाम किया—जहाँ पंच तहाँ परमेश। राजाका शरीर सर्वदेवमय होता है इसलिये उसे सिर नवाया।'* प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि अङ्गदकी शिष्टतामें 'जैसे को तैसा' यह विशेषता सर्वत्र झलकती है। सभासदोंने प्रत्युत्थान दिया अतः इन्होंने भी सबको प्रणाम किया। इससे अङ्गदकी विनयशीलता सूचित की।

* (१)तेजसे सब सभासद खड़े हो गये, इस प्रकार उनका सिर नीचा करके सभामें बैठा। वा (२) अङ्गदको उत्थापन देकर जब अङ्गद बैठ गये तब सभासद भी अङ्गदको सिर नवाकर बैठ गये, (मा० म०, पं०) वा, (३) अङ्गद बैठ गये, इनके बैठनेसे सारी सभाका सिर भयसे नीचा हो गया—(पाँ०)। वा, (४) हृदयमें स्थित रामजीका स्मरण और उन्हींको प्रणाम कर बैठ गया।—(पं० करु०)।

कह दसकंठ कवन तैं बंदर। मैं रघुबीर दूत दसकंधर॥ १॥
मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आयउँ भाई॥ २॥

शब्दार्थ—**दसकंधर**=दशग्रीव, रावण। **कंधर**=ग्रीवा, गर्दन।

अर्थ—दशग्रीव बोला—अरे बंदर! तू कौन है? (अङ्गदने उत्तर दिया—) हे दसकंधर मैं रघुवीरका दूत हूँ॥ १॥ मेरे पितासे और तुझसे मित्रता थी, इससे हे भाई! मैं तेरी भलाईके लिये आया हूँ॥ २॥

नोट—१ *'कह दसकंठ कवन तैं बंदर'* इति। सभासदोंने अङ्गदको अभ्युत्थान दिया यह देख रावण इसमें अपना अपमान समझकर कुढ़ गया है, यथा—*'उठे सभासद कपि कहँ देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेषी॥'* (१९। ८) इसीसे वह इस तरह अपमान करते हुए बोला—'बन्दर! तू कौन है?' रावण अपने सामने दूसरेका उत्कर्ष सह नहीं सकता, यह उसका स्वभाव है, अतः ये वचन उसके स्वभावके अनुकूल हैं *'कवन तैं बन्दर'* में यह भी भाव ले सकते हैं कि जो पूर्व आया था वही तो नहीं है? हनु० ८। ५ में ऐसा ही प्रश्न है, यथा—'**सोऽपि त्वं कमिवावगच्छसि पुरा योऽदाहि लाङ्गूलतः।**'

नोट—२(क) *'रघुबीर दूत'*। भाव कि त्रैलोक्यमें ऐसा वीर कोई नहीं है। आगे इसको विस्तारपूर्वक कहेंगे। पुनः, यह भी जनाया कि मैं उनके पक्षका हूँ पर तू मेरे पिताका मित्र है, इससे तेरा भी भला मैं चाहता हूँ, इसीसे मैं दूत बनकरक आया हूँ कि तुझे समझा दूँ, तू मेरा कहा अवश्य मानेगा। 'रघुवीर' पदसे वाल्मीकिके '**कोशलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः**' और सुं० २१ (७)-२१ मेंके *'तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता'* इत्यादिके भाव भी जना दिये हैं। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'रघुवीर' शब्दके भाव अङ्गदके अगले वचनोंमें निहित हैं। *'हरि आनेहु'* से युद्धवीरता, *'सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा'* से विद्यावीरता (प्रभु) और धर्मवीरता, 'प्रनतपाल' और 'अभय करेंगे' से कृपा और दानवीरता जनायी। इस तरह इस शब्दसे श्रीरामजीकी पंचवीरता सूचित की। बन्दन पाठकजी कहते हैं कि इससे जनाया कि वे तेरे वधके उत्साही हैं। (बं० पा०) *'रघुबीर दूत'* से गीतावलीके *'खर दूषन त्रिसिरा कबंध रिपु जेहि बाली जमलोक पठाएउ। ताको दूत पुनीत चरित हरि प्रभु संदेस कहन हौ आयो॥ ६। २।'* का भाव भी है। (ख) *'दसकंधर'* इति। जैसे रावणने *'बंदर'* सम्बोधन किया था वैसे ही अङ्गदने 'दसकंधर' सम्बोधन किया। जैसेको तैसा। रावण, सुरारि, निशाचरपति आदि शब्द ऐश्वर्यबोधक हैं, वैसा *'दसकंधर'* नहीं है (प० प० प्र०)। आगेके दो चरणोंमें भी *'तोहि' 'तव'* निरादरसूचक एकवचनका प्रयोग किया है।

नोट—३ *'मम जनकहि'* इति। इसमें व्यङ्गसे रावणकी लघुता भी सूचित करते हैं। मिलान कीजिये—'**कस्त्वं? बालितनूद्भवो रघुपतेर्दूतः। हितं तु ब्रूमस्त्वां मम जनकदोर्दण्डविजयस्फुरत्कीर्तिस्तम्भस्त्यज कमलबन्धोः कुलवधूम्॥**' (हनु० ३८-३९) अर्थात् तू कौन है? मैं रघुपतिदूत बालिका पुत्र हूँ। मैं तेरे हितकी कहता हूँ, क्योंकि तू मेरे पिताके भुजदण्डोंकी विजयकी कीर्तिके लिये स्तम्भरूप है—यह गूढ़ोत्तर अलङ्कार है।—इस तरह इसमें व्यङ्ग यह है कि मेरा पिता तुम्हारा मित्र था, मित्रको चाहिये कि अपने मित्रका यश न डूबने दे उसको स्थित रखे; पर तू जो काम कर रहा है इससे अवश्य मारा जायगा, तेरे मारे जानेसे तेरे मित्रकी कीर्तिका स्मारक स्तम्भ नष्ट हो जायगा। अतः मैं तुमको उत्तम बुद्धि प्रदान करने आया हूँ।

प० प० प्र०—भाव यह है कि तेरा बल और प्रताप इतना बड़ा है कि तुझे एक बंदरके साथ मित्रता करनेकी आवश्यकता पड़ गयी। मेरे पिताने जैसा तेरा हित किया वैसा ही मैं भी करना चाहता हूँ।

पु० रा० कु०—१(क) *'तव हित कारन…'* का भाव कि न हमारा कुछ काम है और न रामके ही कामके लिये आया हूँ, जिससे तुम्हारा हित हो उस तुम्हारे ही कामके लिये आया हूँ। हितके लिये यों आया कि पिताके मित्र हो। (ख) *'आयउँ भाई'* इति। रावण राजा है और पिताका मित्र है इस सम्बन्धसे चाचा है, तब उसको *'भाई'* कैसे कहा? उत्तर—अङ्गद उससे सब सम्बन्ध तोड़े हुए बातें कर रहे हैं अथवा उसकी लघुता-सूचनार्थ भाई सम्बोधन किया।

गौड़जी—हिंदीमें 'भाई' पद घनिष्ठ सम्बन्धियोंके सम्बोधनमें उसी तरह प्रयुक्त होता है जिस तरह संस्कृतमें 'तात'। यहाँ भी पिताकी मित्रतासे घनिष्ठताका सम्बन्ध है।